दो शब्द

स्वामी विवेकानन्द एक अपूर्व प्रतिभाशाली मनीषी थे। हमें केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही उनकी इस अलौकिक प्रखर प्रतिभा का परिचय नहीं मिलता, वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषय में भी हम उसकी दिव्य झाँकी देखते हैं। यही कारण था कि हार्वर्ड विश्वविद्यालय के विख्यात प्रोफेसर मि. जे. एच. राइट ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित हो कहा था, "आपसे परिचय-पत्र के लिए पूछना मानो सूर्य से यह पूछना है कि तुम्हारा चमकने का क्या अधिकार है।" उन्होंने यह भी लिखा, "मेरा विश्वास है कि यह अज्ञात हिन्दू संन्यासी हमारे सभी विद्वानों को एकत्रित करने पर जो कुछ हो सकता है उससे भी अधिक विद्वान् है।"

प्रस्तुत पुस्तक स्वामीजी द्वारा विभिन्न स्थानों पर दिए गए व्याख्यानों की टिप्पणियों का संग्रह है। इन व्याख्यानों में उन्होंने विविध महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर अपने मौलिक विचार प्रकट किये हैं; उदाहरणार्थ—भक्तियोग कर्मयोग, कला, ज्ञानयोग, भाषा, संन्यासी और गृहस्थ, नियम और मुक्ति, आदि-आदि। यदि भारत स्वामीजी के इन जीवनप्रद विचारों-द्वारा अपने को अनुप्राणित कर सके तो निश्चय ही वह अपनी अतीत गौरव-गरिमा का पुनर्लाभ कर सकेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं।

हम डॉ. महादेवप्रसादजी शर्मा, एम. ए., डी. लिट्., के बड़े आभारी हैं, जिन्होंने मूल अंग्रेजी से प्रस्तुत पुस्तक का अनुवाद किया है। भाषा एवं भाव दोनों ही दृष्टिकोणों से उनका यह कार्य सफल रहा है।

हमारा पूर्ण विश्वास है कि आज, जब हम नव-भारत की सर्वांगीण उन्नति के लिए कमर कसे हुए हैं, जीवन के विभिन्न पहलुओं पर स्वामीजी के ये उद्बोधक एवं रचनात्मक विचार अत्यन्त उपादेय सिद्ध होंगे।

नागपुर, प्रकाशक
दि. १-२-१९६३

दो शब्द

स्वामी विवेकानन्द एक अपूर्व प्रतिभाशाली मनीषी थे। हमें केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही उनकी इस अलौकिक प्रखर प्रतिभा का परिचय नहीं मिलता, वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषय में भी हम उसकी दिव्य झाँकी देखते हैं। यही कारण था कि हार्वर्ड विश्वविद्यालय के विख्यात प्रोफेसर मि. जे. एच. राइट ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित हो कहा था, "आपसे परिचय-पत्र के लिए पूछना मानो सूर्य से यह पूछना है कि तुम्हारा चमकने का क्या अधिकार है!" उन्होंने यह भी लिखा, "मेरा विश्वास है कि यह अज्ञात हिन्दू संन्यासी हमारे सभी विद्वानों को एकत्रित करने पर जो कुछ हो सकता है उससे भी अधिक विद्वान् है।"

प्रस्तुत पुस्तक स्वामीजी-द्वारा विभिन्न स्थानों पर दिए गए व्याख्यानों की टिप्पणियों का संग्रह है। इन व्याख्यानों में उन्होंने विविध महत्वपूर्ण प्रसंगों पर अपने मौलिक विचार प्रकट किये हैं; उदाहरणार्थ—भक्तियोग कर्मयोग, कला, ज्ञानयोग, भाषा, संन्यासी और गृहस्थ, नियम और मुक्ति, आदि-आदि। यदि भारत स्वामीजी के इन जीवनप्रद विचारों-द्वारा अपने को अनुप्राणित कर सके तो निश्चय ही वह अपनी अतीत गौरव-गरिमा का पुनर्लाभ कर सकेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं।

हम डॉ. महादेवप्रसादजी शर्मा, एम. ए., डी. लिट्., के बड़े आभारी हैं, जिन्होंने मूल अंग्रेजी से प्रस्तुत पुस्तक का अनुवाद किया है। भाषा एवं भाव दोनों ही दृष्टिकोणों से उनका यह कार्य सफल रहा है।

हमारा पूर्ण विश्वास है कि आज, जब हम नव-भारत की सर्वांगीण उन्नति के लिए कमर कसे हुए हैं, जीवन के विभिन्न पहलुओं पर स्वामीजी के ये उद्बोधक एवं रचनात्मक विचार अत्यन्त उपादेय सिद्ध होंगे।

नागपुर, प्रकाशक

दि. १-२-१९५१

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर–१, म. प्र.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ५० वाँ

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

स्वामी विवेकानन्द

विविध प्रसंग

(१)

कर्मयोग

मानसिक और भौतिक सभी विषयों से आत्मा को पृथक् कर लेना ही हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य के प्राप्त हो जाने पर आत्मा देखती है कि वह सर्वदा ही एकाकी है और उसे सुखी बनाने के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं। जब तक अपने को सुखी बनाने के लिये हमें अन्य किसी की आवश्यकता होती है, तब तक हम गुलाम हैं। जब 'पुरुष' जान लेता है कि वह मुक्त है, उसे अपनी पूर्णता के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं एवं यह प्रकृति नितान्त अनावश्यक है, तब कैवल्य-लाभ हो जाता है।

मनुष्य चाँदी के चंद टुकड़ों के पीछे दौड़ता रहता है और उनकी प्राप्ति के लिये अपने एक सजातीय को भी धोखा देने में

स्वामी विवेकानन्द

विविध प्रसंग

(१)

कर्मयोग

मानसिक और भौतिक सभी विषयों से आत्मा को पृथक् कर देना ही हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य के प्राप्त हो जाने पर आत्मा देखती है कि वह सर्वदा ही एकाकी है और उसे सुखी बनाने के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं। जब तक अपने को सुखी बनाने के लिये हमें अन्य किसी की आवश्यकता होती है, तब तक हम गुलाम हैं। जब 'पुरुष' जान लेता है कि वह मुक्त है, उसे अपनी पूर्णता के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं एवं यह प्रकृति नितान्त अनावश्यक है, तब कैवल्य-लाभ हो जाता है।

मनुष्य चाँदी के चंद टुकड़ों के पीछे दौड़ता रहता है और उनकी प्राप्ति के लिये अपने एक सजातीय को भी धोखा देने में

हिचकता; पर यदि वह स्वयं पर नियंत्रण रखे तो कुछ ही
में अपने चरित्र का ऐसा सुन्दर विकास कर सकता है कि यदि
चाहे तो लाखों रुपये उसके पास आ जाएँ। तब वह अपनी
छा-शक्ति से जगत् का परिचालन कर सकता है। किन्तु हम कितने
द्धि हैं।

अपनी भूलों को संसार को बतलाते फिरने से क्या लाभ!
तरह उनमें सुधार तो हो नहीं सकता। अपनी करनी का फल
सबको भुगतना ही पड़ेगा। हम यही कर सकते हैं कि भविष्य
अधिक अच्छा काम करें। बली और शक्तिमान् के साथ ही संसार
सहानुभूति रहती है।

केवल वही कर्म, जो निष्काम लोक-कल्याण की भावना से
या जाता है, बन्धन का कारण नहीं होता।

किसी भी प्रकार के कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।
ो व्यक्ति कोई छोटा या नीचा काम करता है, वह केवल इसी
रण ऊँचा काम करनेवाले की अपेक्षा छोटा या हीन नहीं हो
ाता। मनुष्य की परख उसके कर्तव्य की उच्चता या हीनता की
सौटी पर नहीं होनी चाहिये, पर यह देखना चाहिये कि वह
र्तव्यों का पालन किस ढंग से करता है। मनुष्य की सच्ची पहचान
ो अपने कर्तव्यों को करने की उसकी शक्ति और तरीके में होती है।
क मोची, जो कि कम से कम समय में बढ़िया और मजबूत जूतों की
ोड़ी तैयार कर सकता है, अपने व्यवसाय में उस प्राध्यापक की

व्यक्ति कहीं अधिक श्रेष्ठ है जो दिन भर थोथी बकवास ही किया करता है।

प्रत्येक कर्तव्य पवित्र है और कर्तव्य-निष्ठा भगवत्पूजा का सर्वोत्कृष्ट रूप है; बद्ध जीवों की भ्रान्त, अज्ञानतिमिराच्छन्न आत्माओं को ज्ञान और मुक्ति दिलाने में यह कर्तव्य-निष्ठा निश्चय ही एक बड़ी सहायक है।

जो कर्तव्य हमारे निकटतम है, जो कार्य अभी हमारे हाथों में है, उसको सुचारु रूप से सम्पन्न करने से हमारी कार्य-शक्ति बढ़ती है; और इस प्रकार क्रमशः अपनी शक्ति बढ़ाते हुए हम एक ऐसी अवस्था की भी प्राप्ति कर सकते हैं जब हमें जीवन और समाज के सब से महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित कार्यों को करने का सौभाग्य प्राप्त हो सके।

प्रकृति का न्याय समान रूप से निर्मम और कठोर होता है।

व्यवहार-कुशल व्यक्ति जीवन को न तो भला कहेगा और न बुरा।

प्रत्येक सफल मनुष्य के स्वभाव में कहीं-न-कहीं एक विशाल ईमानदारी और सचाई छिपी रहती है, और उसी के कारण उसे जीवन में इतनी सफलता मिलती है। वह पूर्णतया स्वार्थहीन न रहा हो, पर वह उसकी ओर अग्रसर होता रहा था। यदि वह सम्पूर्ण रूप से स्वार्थहीन होता, तो उसकी सफलता वैसी ही महान् होती, जैसी बुद्ध या ईसा की। सर्वत्र निःस्वार्थता की मात्रा पर ही सफलता की मात्रा निर्भर रहती है।

मानव जाति के महान् नेतागण उन लोगों की अपेक्षा, जो केवल मंच पर से ही व्याख्यान झाड़ा करते हैं, अधिक उच्च कोटि के हुआ करते हैं।

यदि हम पवित्रता या अपवित्रता का अर्थ अहिंसा या हिंसा के रूप में लें, तब तो हम चाहे जितना प्रयत्न करें, हमारा कोई भी कार्य सम्पूर्णतया पवित्र या अपवित्र नहीं हो सकता। हम बिना किसी की हिंसा किये साँस तक नहीं ले सकते। भोजन का प्रत्येक ग्रास हम किसी-न-किसी के मुँह से छीनकर ही खाते हैं; हमारा जीवन ही अन्य कुछ प्राणियों का अस्तित्व मिटा दे रहा है। चाहे वे मनुष्य हों या पशु अथवा छोटे छोटे पौधे, पर कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी को हमारे लिये मिटना ही पड़ता है। ऐसा होने के कारण यह स्पष्ट ही है कि कर्म-द्वारा पूर्णता कभी नहीं प्राप्त की जा सकती। हम अनन्त काल तक कर्म करते रहें, पर इस दुर्भेद्य जाल के बाहर नहीं आ सकते। हम कर्म पर कर्म करते रहें, परन्तु कर्मों का कहीं अन्त न होगा।

जो मनुष्य प्रेम से अभिभूत होकर बिना किसी बन्धन के कार्य करता है, उसे कार्य-फल की कोई परवाह नहीं रहती। परन्तु जो गुलाम है, वह बिना कोड़ों की मार के कार्य नहीं कर सकता, और न नौकर, बिना वेतन के। ऐसा ही समस्त जीवन में है। उदाहरणार्थ, सार्वजनिक जीवन को ले लो। सार्वजनिक सभा में भाषण देनेवाला या तो कुछ तालियाँ चाहता है या विरोध-प्रदर्शन ही। यदि तुम इन दोनों में से उसे कुछ भी न दो, तो उसका

उत्साह जाता रहता है, क्योंकि उसे इसकी ज़रूरत है। यही दास की तरह काम करना कहलाता है। ऐसी परिस्थितियों में, बदले में कुछ चाह रखना हमारा दूसरा स्वभाव-सा बन जाता है। इसके बाद है नौकर का काम, जो किसी वेतन की अपेक्षा करता है; 'मैं तुम्हें यह देता हूँ और तुम मुझे यह दो' यह भाव। 'मैं कार्य के लिये ही कार्य करता हूँ' यह कहना तो बहुत सरल है, पर इसे पूरा कर दिखाना बहुत ही कठिन है। मैं कर्म ही के लिये कर्म करनेवाले मनुष्य को देखने के लिये कोसों कोस सिर के बल जाने को तैयार हूँ। लोगों के काम में कहीं-न-कहीं स्वार्थ छिपा ही रहता है। कहीं उसका रूप धन-प्राप्ति होता है, कहीं अधिकार-प्राप्ति और कहीं अन्य कोई लाभ। कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में स्वार्थ रहता अवश्य है। तुम मेरे मित्र हो, और मैं तुम्हारे लिये तुम्हारे साथ रहकर काम करना चाहता हूँ। यह सब दिखने में बड़ा अच्छा है; और प्रति पल मैं अपनी सचाई की दुहाई भी दे सकता हूँ। पर ध्यान रखो, तुम्हें मेरे मत से मत मिलाकर काम करना होगा! यदि तुम मुझसे सहमत नहीं होते, तो मैं तुम्हारी कोई परवाह नहीं करता! स्वार्थ-सिद्धि के लिये इस प्रकार का काम दुःखदायी होता है। जहाँ हम अपने मन के स्वामी होकर कार्य करते हैं, केवल वही कर्म हमें अनासक्ति और आनन्द प्रदान करता है।

एक बड़ा पाठ सीखने का यह है कि समस्त विश्व का मूल्य आँकने के लिये मैं ही मापदण्ड नहीं हूँ। प्रत्येक व्यक्ति का मूल्यांकन उसके अपने भावों के अनुसार होना चाहिये। इसी प्रकार

उत्साह जाता रहता है, क्योंकि उसे इसकी ज़रूरत है। यही दास की तरह काम करना कहलाता है। ऐसी परिस्थितियों में, बदले में कुछ चाह रखना हमारा दूसरा स्वभाव-सा बन जाता है। इसके बाद है नौकर का काम, जो किसी वेतन की अपेक्षा करता है; 'मैं तुम्हें यह देता हूँ और तुम मुझे यह दो' यह भाव। 'मैं कार्य के लिये ही कार्य करता हूँ' यह कहना तो बहुत सरल है, पर इसे पूरा कर दिखाना बहुत ही कठिन है। मैं कर्म ही के लिये कर्म करनेवाले मनुष्य को देखने के लिये बांसों कोस सिर के बल जाने को तैयार हूँ। लोगों के काम में कहीं-न-कहीं स्वार्थ छिपा ही रहता है। कहीं उसका रूप धन-प्राप्ति होता है, कहीं अधिकार-प्राप्ति और कहीं अन्य कोई लाभ। कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में स्वार्थ रहता अवश्य है। तुम मेरे मित्र हो, और मैं तुम्हारे लिये तुम्हारे साथ रहकर काम करना चाहता हूँ। यह सब दिखने में बड़ा अच्छा है; और प्रति पल मैं अपनी सचाई की दुहाई भी दे सकता हूँ। पर ध्यान रखो, तुम्हें मेरे मत से मत मिलाकर काम करना होगा! यदि तुम मुझसे सहमत नहीं होते, तो मैं तुम्हारी कोई परवाह नहीं करता! स्वार्थ-सिद्धि के लिये इस प्रकार का काम दुःखदायी होता है। जहाँ हम अपने मन के स्वामी होकर कार्य करते हैं, केवल वही कर्म हमें अनासक्ति और आनन्द प्रदान करता है।

एक

मानव जाति के महान् नेतागण उन लोगों की अपेक्षा, जो केवल मंच पर से ही व्याख्यान झाड़ा करते हैं, अधिक उच्च कोटि के हुआ करते हैं।

यदि हम पवित्रता या अपवित्रता का अर्थ अहिंसा या हिंसा के रूप में लें, तब तो हम चाहे जितना प्रयत्न करें, हमारा कोई भी कार्य सम्पूर्णतया पवित्र या अपवित्र नहीं हो सकता। हम बिना किसी की हिंसा किये साँस तक नहीं ले सकते। भोजन का प्रत्येक ग्रास हम किसी-न-किसी के मुँह से छीनकर ही खाते हैं; हमारा जीवन ही अन्य कुछ प्राणियों का अस्तित्व मिटा दे रहा है। चाहे वे मनुष्य हों या पशु अथवा छोटे छोटे पौधे, पर कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी को हमारे लिये मिटना ही पड़ता है। ऐसा होने के कारण यह स्पष्ट ही है कि कर्म-द्वारा पूर्णता कभी नहीं प्राप्त की जा सकती। हम अनन्त काल तक कर्म करते रहें, पर इस दुर्भेद्य जाल के बाहर नहीं आ सकते। हम कर्म पर कर्म करते रहें, परन्तु कर्मों का कहीं अन्त न होगा।

उत्साह जाता रहता है, क्योंकि उसे इसकी ज़रूरत है। यही दास की तरह काम करना कहलाता है। ऐसी परिस्थितियों में, बदले में कुछ चाह रखना हमारा दूसरा स्वभाव-सा बन जाता है। इसके बाद है नौकर का काम, जो किसी वेतन की अपेक्षा करता है; 'मैं तुम्हें यह देता हूँ और तुम मुझे यह दो' यह भाव। 'मैं कार्य के लिये ही कार्य करता हूँ' यह कहना तो बहुत सरल है, पर इसे पूरा कर दिखाना बहुत ही कठिन है। मैं कर्म ही के लिये कर्म करनेवाले मनुष्य को देखने के लिये बीसों कोस सिर के बल जाने को तैयार हूँ। लोगों के काम में कहीं-न-कहीं स्वार्थ छिपा ही रहता है। कहीं उसका रूप धन-प्राप्ति होता है, कहीं अधिकार-प्राप्ति और कहीं अन्य कोई लाभ। कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में स्वार्थ रहता अवश्य है। तुम मेरे मित्र हो, और मैं तुम्हारे लिये तुम्हारे साथ रहकर काम करना चाहता हूँ। यह सब दिखने में बड़ा अच्छा है; और प्रति पल मैं अपनी सचाई की दुहाई भी दे सकता हूँ। पर ध्यान रखो, तुम्हें मेरे मत से मन मिलाकर काम करना होगा। यदि तुम मुझसे सहमत नहीं होते, तो मैं तुम्हारी कोई परवाह नहीं करता। स्वार्थ-सिद्धि के लिये इस प्रकार का काम दुःखदायी होता है। जो हम अपने मन के स्वामी होकर कार्य करते हैं, केवल वही हमें अनासक्ति और आनन्द प्रदान करता है।

एक बड़ा पाठ सीखने का यह है कि [illegible] मूल्य आँकने के लिये मैं ही मापदण्ड नहीं हूँ। [illegible] मूल्यांकन उसके अपने भावों के अनुसार

प्रत्येक जाति एवं देश के आदर्शों और रीति-रिवाज़ों की जाँच उन्हीं के विचारों, उन्हीं के मापदण्ड के अनुसार होनी चाहिये। अमेरिका-वासी जिस वातावरण में रहते हैं, वही उनके रीति-रिवाज़ों का कारण है, और भारतीय प्रथायें भारतीयों के वातावरण की फलोत्पत्ति हैं; और इसी प्रकार चीन, जापान, इंग्लैण्ड तथा अन्य सब देशों के सम्बन्ध में भी यही बात है।

हम जिस स्थिति के योग्य हैं, वही हमें मिलती है। प्रत्येक गेंद अपने अनुकूल छिद्र में ही गिरती है। यदि किसी की योग्यता दूसरे से अधिक है तो संसार उसे भी जान लेगा, क्योंकि विश्व में जोड़-तोड़ मिलाने की क्रिया निरन्तर ही चल रही है। अतः बड़-बड़ाने से कोई लाभ नहीं। यदि कोई धनी आदमी दुष्ट है तो उसमें कुछ ऐसे भी गुण होंगे जिनके कारण वह धनी बना, और यदि किसी दूसरे व्यक्ति में ये गुण हैं, तो वह भी धनवान बन सकता है। शिकायतों और झगड़ों से क्या लाभ ! उससे हम कुछ अधिक अच्छे तो बन नहीं जायेंगे। जो अपने भाग्य में पड़ी हुई सामान्य वस्तु के लिये भी बड़बड़ाता है, वह हर एक वस्तु के लिये बड़बड़ायेगा। इस प्रकार सर्वदा बड़बड़ाते रहने से उसका जीवन दुःखमय हो जायगा और सर्वत्र असफलता ही उसके हाथ लगेगी। परन्तु जो मनुष्य अपने कर्तव्य को पूर्ण शक्ति से करता रहता है, वह ज्ञान एवं प्रकाश का भागी होगा, और उसे अधिकाधिक ऊँचे कार्य करने के अवसर प्राप्त होंगे।

(२)

दुराग्रह

दुराग्रही कई प्रकार के होते हैं। कुछ लोग शराब पीने के
कट्टर विरोधी होते हैं तो कोई सिगरेट पीने के। कुछ लोग सोचते
हैं यदि मनुष्य सिगार पीना छोड़ दें तो संसार में फिर से सतयु
लौट आएगा। यह दुराग्रह बहुधा स्त्रियों में देखा जाता है। ए
दिन यहाँ इस कक्षा में एक युवती उपस्थित थी। वह शिकागो व
उन महिलाओं में से एक थी जिन्होंने मिलकर एक संस्था बनाई है
जहाँ वे मजदूरों के लिये व्यायाम और संगीत का प्रबन्ध करती हैं
यह युवती एक दिन संसार में प्रचलित बुराइयों की चर्चा कर र
थी। उसने कहा कि मैं उन्हें दूर करने का उपाय जानती हूँ। मैं
पूछा, "तुम क्या जानती हो?" उसने उत्तर दिया, "आप
'हल हाऊस' (Hull House) देखा है?" उसकी राय में व
'हल हाऊस' संसार की सभी बुराइयों को दूर करने का एकमा
उपाय है। उसका यह अन्धविश्वास बढ़ता ही जायगा। मुझे उस
लिये दुःख है। भारत में कुछ दुराग्रही हैं जो सोचते हैं
विधवा-विवाह प्रचलित हो जाने से समस्त बुराइयाँ दूर हो जायेंगी
यह दुराग्रह है, हठधर्म है।

जब मैं छोटा था तो सोचता था कि दुराग्रह से कार्य में बड़ी प्रेरणा मिलती है, पर ज्यों ज्यों मैं वयस्क होता जा रहा हूँ, मुझे अनुभव होता है कि बात ऐसी नहीं है।

एक ऐसी स्त्री हो सकती है जो चोरी करती हो और किसी दूसरे की थैली ले चम्पत होने में न हिचकती हो; पर शायद वह सिगरेट नहीं पीती। वह सिगरेट पीने की एक कट्टर विरोधिनी हो जाती है और किसी को सिगरेट पीते देखकर केवल इसी कारण से उसकी तीव्र निन्दा करने लगती है। इसी प्रकार, एक मनुष्य दूसरों को ठगता फिरता है; उस पर किसी का विश्वास नहीं; कोई स्त्री उसके साथ सुरक्षित नहीं रह सकती। पर शायद यह दुष्ट शराब नहीं पीता; और इसलिये शराब पीनेवालों में वह कुछ भी अच्छाई नहीं देखता। वह स्वयं जो इतनी दुष्टता करता है, उस पर उसकी आँखें नहीं जातीं। यही मनुष्यों की स्वाभाविक स्वार्थपरता और एकांगीपन है।

तुम्हें यह भी याद रखना चाहिये कि संसार का शासन-कर्ता ईश्वर है और उसने संसार को हमारी दया पर नहीं छोड़ दिया है। वही इसका शासक और पालन-कर्ता है, और इन शराब, सिगार व नानाविध विवाह सम्बन्धी दुराग्रहियों के बावजूद भी यह चलता रहेगा। यदि ये लोग मर जायँ तो भी संसार उसी भाँति चलता ही रहेगा।

तुम्हें अपने इतिहास की यह बात याद नहीं है कि ... 'मे-फ्लावर' (May flower) वाले लोगों का

आगमन हुआ, जो अपने को शुद्धाचारवादी (Puritans) कहते थे ! वे थे तो बहुत शुद्ध और पवित्र, परन्तु बाद में वे ही अन्य लोगों पर अत्याचार करने लगे। मानवजाति के इतिहास में सदैव ऐसा ही होता रहा है। जो लोग दूसरों के अत्याचार से भागकर आते हैं, वे भी मौका पाते ही दूसरों पर अत्याचार करने लगते हैं।

सौ में नब्बे दुराग्रहियों का यकृत खराब होता है, या वे मन्दाग्नि अथवा किसी अन्य रोग से पीड़ित रहते हैं। धीरे धीरे चिकित्सक लोगों को भी ज्ञात हो जायगा कि दुराग्रह एक प्रकार का रोग है। मैंने ऐसा बहुत देखा है। परमात्मा मुझे ऐसे रोग से बचाए!

मेरा अनुभव यह है कि दुराग्रहपूर्ण सभी सुधारों से अलग रहना ही बुद्धिमानी है। संसार धीरे धीरे चलता ही जा रहा है, उसे उसी प्रकार चलने दो। तुम्हें इतनी जल्दी क्यों पड़ी है? अच्छी नींद सोओ और स्नायुओं को स्वस्थ मज़बूत रखो; उचित प्रकार का भोजन करो और संसार के साथ सहानुभूति रखो। दुराग्रही केवल घृणा ही अर्जन करते हैं। क्या तुम यह कहना चाहते हो कि ये मादक-द्रव्य-निषेध के दुराग्रही बेचारे शराब पीनेवालों से प्रेम करते हैं? दुराग्रही का दुराग्रह केवल इसीलिये होता है कि वह बदले में स्वयं के लिये कुछ पाना चाहता है। ज्योंही संघर्ष समाप्त हुआ, वह लूटने को आगे बढ़ जाता है। जब तुम दुराग्रहियों का साथ छोड़ोगे, तभी तुम जानोगे कि सच्चा प्रेम और सच्ची सहानुभूति किस प्रकार की जाती है। तुममें सहानुभूति और प्रेम जितना ही बढ़ेगा,

तुम इन बेचारों को उतना ही कम दोष दोगे, बल्कि उनके दोषों से तुम्हारी सहानुभूति हो जायगी। तब तुम शराबी से सहानुभूति कर सकोगे और समझ सकोगे कि वह भी तुम्हारी भाँति एक मनुष्य है। तब तुम उन परिस्थितियों को समझ सकोगे जो उसे पतन की ओर खींच रही हैं, और अनुभव करोगे कि यदि तुम उसके स्थान में होते तो कदाचित् आत्महत्या कर लेते। मुझे एक स्त्री की बात याद आती है, जिसका पति बड़ा शराबी था। उसने अपने पति की इस आदत के बारे में मुझसे शिकायत की। मैंने प्रत्युत्तर में कहा, "श्रीमतीजी, यदि आपकी तरह दो करोड़ पत्नियाँ हों, तब तो सारे के सारे पति शराबी बन जायँ।" मुझे यह पक्का विश्वास हो गया है कि शराबियों में से अधिकांश अपनी पत्नियों द्वारा ही शराबी बनाये गये हैं। मेरा काम है सत्य बात कहना, किसी की खुशामद करना नहीं। ये उद्दण्ड स्त्रियाँ जो न सहन करना जानती हैं, न क्षमा, जो अपनी स्वतन्त्रता का यह अर्थ लगाती हैं कि पुरुष उनके चरणों में लोटते रहें, और जो पतियों से अपनी इच्छा के प्रतिकूल कोई बात सुनते ही झगड़ा करने और चिल्लाने लगती हैं—ऐसी स्त्रियाँ संसार के लिये अभिशापस्वरूप हैं, और आश्चर्य की बात तो यह है कि इनके कारण संसार के आधे आदमी आत्महत्या क्यों नहीं कर लेते। इस प्रकार की बातें नहीं होनी चाहिये। जीवन इतनी सरल वस्तु नहीं है जैसा कि लोग समझते हैं। यह तो एक बड़ा गम्भीर व्यापार है।

मनुष्य में केवल श्रद्धा ही नहीं वरन् युक्तिसंगत श्रद्धा होनी चाहिये। यदि मनुष्य को सभी कुछ मानने और करने पर बाध्य

(३)

कर्म ही उपासना है

जीवन्मुक्त कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें उसे संसार से बाँधनेवाली कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती, उसमें आसक्ति और अज्ञान का नामोनिशान तक नहीं रह जाता। कहा जाता है कि एक बार एक जहाज़ चुम्बक के पहाड़ के पास पहुँच गया, जिससे उसके सब कल-पुर्जे खिंचकर निकल गये और वह टुकड़े-टुकड़े हो गया। अज्ञान की ही दशा में कर्म का संघर्ष रहता है, क्योंकि हम सब वास्तव में नास्तिक ही हैं। ईश्वर में सच्चा विश्वास रखनेवाले कर्म नहीं कर सकते। हम सभी न्यूनाधिक मात्रा में नास्तिक हैं। हम न तो परमात्मा को देखते हैं और न उन पर विश्वास करते हैं। हमारे लिये 'ई-श्व-र' अक्षरों का समूह मात्र या शब्द मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं। हमारे जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं जब हम ईश्वर की समीपता का अनुभव करने लगते हैं, पर पुनः हम नीचे गिर जाते हैं। जब तुमने उसे देख लिया, तब संघर्ष किसके लिये रहेगा ? भगवान की सहायता करना !—इसके बारे में हमारी भाषा में एक लोकोक्ति है कि 'हम विश्व के निर्माता को क्या

निर्माण-कला सिखायेंगे !' अतः सर्वोच्च कोटि के लोग कर्म नहीं करते। जब कभी फिर तुम ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें सुनो कि हमें भगवान की सहायता करनी चाहिये, अथवा उनके लिये यह करना चाहिये या वह करना चाहिये, तो इस बात को याद रखना। ऐसे विचार ही मन में न लाओ; ये अत्यन्त स्वार्थपूर्ण हैं। तुम जो कुछ भी कार्य करते हो, उस सबका सम्बन्ध तुम्हीं से है और उसे तुम अपने ही भले के लिए करते हो। भगवान किसी खंदक में नहीं गिर गए हैं जो उन्हें हमारी या तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है, कि हम अस्पताल बनवाकर या इसी तरह के अन्य कार्य करके उनकी सहायता कर सकें। उन्हीं की आज्ञा से तुम कर्म कर पाते हो। इस संसाररूपी व्यायाम-शाला में भगवान तुम्हें अपने रग-पुट्ठों को व्यायाम-द्वारा दृढ़ बनाने का अवसर देते हैं—इसलिये नहीं कि तुम उनकी सहायता करो, बल्कि इसलिये कि तुम स्वयं अपनी सहायता कर सको। क्या तुम सोचते हो कि तुम अपनी सहायता से एक चींटी तक को मरने से बचा सकते हो ! ऐसा सोचना महापातक है ! संसार को तुम्हारी तनिक भी आवश्यकता नहीं। संसार चलता जाता है, तुम इस संसार-सिन्धु में बिन्दु-सदृश हो। बिना प्रभु की इच्छा के एक पत्ता तक नहीं हिल सकता, वायु भी नहीं बह सकता। हम धन्य हैं जो हमें यह सौभाग्य प्राप्त है कि हम उनके लिये कर्म करें,—उनको सहायता देने के लिये नहीं। इस 'सहायता' शब्द को मन से सदा के लिये निकाल दो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते। यह सोचना कि तुम सहायता

कर सकते हो, महापातक है—ईश्वर की घोर निन्दा है। तुम स्वयं उनकी इच्छा से यहाँ पर हो। क्या तुम्हारे कहने का यह तात्पर्य है कि तुम उनकी सहायता करते हो ! नहीं, सहायता नहीं, तुम उनकी पूजा करते हो। जब तुम कुत्ते को एक ग्रास खाना देते हो, तब तुम कुत्ते की ईश्वर-रूप से पूजा करते हो। परमात्मा उस कुत्ते में हैं—कुत्ते के रूप में प्रकट हुए हैं। वे ही सर्वस्व हैं, सर्वभूतों में हैं। हमें उनकी पूजा का महत् सौभाग्य प्राप्त है। समस्त जगत् के प्रति यही आदर का भाव लेकर खड़े हो जाओ, और तब तुम्हें पूर्ण अनासक्ति प्राप्त हो जायगी। यही तुम्हारा कर्तव्य होना चाहिये। कर्म करने का यही उचित भाव है। कर्मयोग इसी रहस्य की शिक्षा देता है।

(४)

निष्काम कर्म

स्वामी विवेकानन्द ने 'निष्काम कर्म' पर रामकृष्ण मिशन की तयालीसवीं सभा में, जो रामकान्त स्ट्रीट पर मकान नं. ५७, बागबाजार कलकत्ता में २० मार्च सन् १८९८ ई. को हुई थी, निम्नलिखित आशय का भाषण दिया था :—

जिस समय पहले-पहल गीता का उपदेश दिया गया था, उस समय दो सम्प्रदायों में बड़ा वाद-विवाद मचा हुआ था। इनमें से एक सम्प्रदाय वैदिक यज्ञों, पशु-बलि तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कर्मों को ही धर्म का सार-सर्वस्व समझता था, और दूसरा इस मत का था कि असंख्य अश्वों व निरीह पशुओं का वध धर्म नहीं कहा जा सकता। इस दूसरे सम्प्रदाय में अधिकतर ज्ञानमार्गी तथा संन्यासीगण थे। उनका यह विश्वास था कि सर्व कर्मों से संन्यास ले आत्मानुभूति प्राप्त करना ही मोक्ष का एकमेव मार्ग है। गीता के महान् आचार्य श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्म के अपने महान् सिद्धान्त को प्रतिपादित कर इन दोनों विरोधी दलों के विवाद को शान्त कर दिया।

अनेक लोगों का यह मत है कि गीता महाभारत के समय नहीं लिखी गई, वरन् बाद में उसमें जोड़ दी गई है। यह बात ठीक नहीं है। गीता के जो विशिष्ट सिद्धान्त हैं, वे महाभारत के प्रत्येक भाग में पाये जाते हैं, और यदि गीता को बाद में जोड़ी हुई मानकर निकाल लिया जाय, तो महाभारत के प्रत्येक भाग में से वे अंश निकालने पड़ेंगे जिनमें गीता के सिद्धान्त पाये जाते हैं।

निष्काम कर्म का अर्थ क्या है? आजकल बहुत से लोग इसका यह अर्थ समझते हैं कि कर्म इस प्रकार किया जाय जिससे मन को न हर्ष हो, न विषाद। यदि यही निष्काम कर्म का सच्चा अर्थ हो तब तो पशुओं को निष्काम कर्मी कहा जा सकता है। कुछ पशु अपने बच्चों को ही निगल जाते हैं, और ऐसा करने में उन्हें कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं होता। डाकू अन्य लोगों का सब माल छीनकर उनका सर्वनाश कर देते हैं, और यदि वे पर्याप्त कठोर होकर दुःख-सुख की परवाह न करें, तो उन्हें भी फिर निष्काम-कर्मी कहना पड़ेगा। यदि निष्काम कर्म का अर्थ ऐसा ही हो, तब तो क्रूर, पाषाणहृदय, नीचतम अपराधी भी निष्काम कर्मियों में गिना जा सकता है। दीवार को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, पत्थर में सुख-दुःख की भावना नहीं होती, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे निष्काम कर्मी हैं। यदि निष्काम कर्म उपरोक्त अर्थ में प्रयुक्त किया जाय तब तो वह दुष्टों के हाथों में एक प्रबल अस्त्र बन जायगा। वे तरह तरह के बुरे कर्म करते जाएँगे और कहेंगे कि हम तो बिना किसी कामना के ये सब काम कर रहे हैं।

इसलिये यदि निष्काम कर्म का यही अर्थ हो, तब तो हम कहेंगे कि गीता में एक बड़े ही भयानक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। अतः यह अर्थ नहीं हो सकता। फिर, यदि हम गीता-नायकों के चरित्र की ओर देखें तो उनका जीवन एक भिन्न ही प्रकार का मालूम होगा। अर्जुन ने रणक्षेत्र में भीष्म और द्रोण का संहार किया, और साथ ही उसने अपनी इच्छाओं, स्वार्थ व निम्नप्रकृति का भी लाखों बार बलिदान किया।

गीता कर्मयोग की शिक्षा देता है। हमें योग (एकाग्रता) के द्वारा कर्म करना चाहिये। जब कर्मयोग में इस प्रकार की एकाग्रता आ जाती है तब क्षुद्र अहं-भाव का लेश मात्र भी अस्तित्व नहीं रह जाता। जब योग-युक्त होकर कार्य किया जाता है तब मैं कर रहा हूँ—यह ध्यान ही नहीं रहता। पाश्चात्यों की समझ में यह बात नहीं आती। वे कहते हैं कि यदि अहं-भाव न रहे, यदि अहं का नाश हो जाय तो फिर किसी मनुष्य के लिये कार्य कर सकना किस प्रकार सम्भव हो सकता है! पर जो अपने को सम्पूर्णतः भूलकर एकाग्रचित्त से कार्य करता है, उसका कार्य निश्चय ही बहुत ही अच्छा होता है, और इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति ने अपने जीवन में किया होगा। हम कई काम अनजान में ही करते रहते हैं, जैसे खाये हुए भोजन को पचाना आदि, कई कार्य जान-बूझकर करते हैं, तथा कई कार्य ऐसे भी होते हैं जो हमारी मानो समाधि-अवस्था में सम्पन्न होते हैं, जब कि हमारे क्षुद्र अहं का अस्तित्व नहीं रहता। यदि चित्रकार अपने को भूलकर

चित्र बनाने में ही पूर्ण रूप से लीन हो जाय, तो उसका चित्र एक महान् कृति होगी। एक अच्छा रसोइया भोजन बनाने के समय अपना सब कुछ उसी में लगा देता है; उस समय तक के लिये वह अन्य सब कुछ भूल जाता है। परन्तु ये लोग इस प्रकार केवल उसी एक कार्य को अच्छी तरह से कर सकते हैं जिसके लिए वे अभ्यस्त हैं। गीता की शिक्षा है कि सभी कार्यों को इसी तरह पूर्णता के साथ करना चाहिये। जो योग के द्वारा प्रभु से एकरूप हो गया है, वह अपने सभी कार्यों को इसी एकाग्रता के साथ करता है और अपने स्वार्थ की कुछ भी चाह नहीं रखता। इस प्रकार किए हुए कर्म-द्वारा संसार की भलाई ही होती है, उससे किसी प्रकार की बुराई नहीं हो सकती। जो इस प्रकार कर्म करते हैं, वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये कभी कुछ भी नहीं करते।

प्रत्येक कार्य के फल में भलाई और बुराई मिली रहती है। कोई भी अच्छा काम ऐसा नहीं होता जिसमें बुराई का कुछ-न-कुछ सम्पर्क न रहता हो। जैसे अग्नि धुएँ से आवृत रहती है, उसी प्रकार कर्म में कोई-न-कोई दोष लगा ही रहता है। हमें ऐसे कार्यों में ही रत रहना चाहिये जिनसे भलाई सबसे अधिक और बुराई बिलकुल कम हो। अर्जुन ने भीष्म और द्रोण का वध किया। यदि यह न किया जाता तो दुर्योधन पर विजय प्राप्त नहीं होती, बुराई की शक्तियों की अच्छाई की शक्तियों पर जीत हो जाती और इस प्रकार देश पर विपत्तियों के काले बादल मँडराने लगते; अभिमानी और अन्यायी राजाओं के एक दल के द्वारा राज्य का शासन

लपूर्वक हड़ा लिया जाता और देश की जनता पर दुर्भाग्य की कालिमा फैल जाती। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी कंस, जरासन्ध इत्यादि अत्याचारियों का संहार किया, पर उनका एक भी कार्य उनके स्वयं के लिये नहीं था। उनका प्रत्येक कार्य दूसरों की भलाई के लिये ही था। हम दिये के प्रकाश में गीता का पठन कर रहे हैं, पर अनेक पतिंगे दिये से जलकर मरते जा रहे हैं। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कर्म में कुछ-न-कुछ दोष रहता ही है। जो अपना क्षुद्र अहं-भाव भूलकर कार्य करते हैं, उन पर इन दोषों का प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वे संसार की भलाई के लिये कर्म करते हैं। निष्काम और अनासक्त होकर कार्य करने से हमें परम आनन्द और मुक्ति की प्राप्ति होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कर्मयोग के इसी रहस्य की शिक्षा दी है।

चित्र बनाने में ही पूर्ण रूप से लीन हो जाय, तो उसका चित्र एक महान् कृति होगी। एक अच्छा रसोइया भोजन बनाने के समय अपना सब कुछ उसी में लगा देता है; उस समय तक के लिये वह अन्य सब कुछ भूल जाता है। परन्तु ये लोग इस प्रकार केवल उसी एक कार्य को अच्छी तरह से कर सकते हैं जिसके लिए वे अभ्यस्त हैं। गीता की शिक्षा है कि सभी कार्यों को इसी तरह पूर्णता के साथ करना चाहिये। जो योग के द्वारा प्रभु से एकरूप हो गया है, वह अपने सभी कार्यों को इसी एकाग्रता के साथ करता है और अपने स्वार्थ की कुछ भी चाह नहीं रखता। इस प्रकार किए हुए कर्म-द्वारा संसार की भलाई ही होती है, उससे किसी प्रकार की बुराई नहीं हो सकती। जो इस प्रकार कर्म करते हैं, वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये कभी कुछ भी नहीं करते।

प्रत्येक कार्य के फल में भलाई और बुराई मिली रहती है। कोई भी अच्छा काम ऐसा नहीं होता जिसमें बुराई का कुछ-न-कुछ सम्पर्क न रहता हो। जैसे अग्नि धुएँ से आवृत रहती है, उसी प्रकार कर्म में कोई-न-कोई दोष लगा ही रहता है। हमें ऐसे कार्यों में ही रत रहना चाहिये जिनसे भलाई सबसे अधिक और बुराई बिल्कुल कम हो। अर्जुन ने भीष्म और द्रोण का वध किया। यदि यह न किया जाता तो दुर्योधन पर विजय प्राप्त नहीं होती, बुराई की शक्तियों की अच्छाई की शक्तियों पर जीत हो जाती और इस प्रकार देश पर विपत्तियों के काले बादल मँडराने लगते; अभिमानी और अन्यायी राजाओं के एक दल के द्वारा राज्य का शासन

लपूर्वक हड़प लिया जाता और देश की जनता पर दुर्भाग्य की कालिमा फैल जाती। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी कंस, जरासन्ध इत्यादि अत्याचारियों का संहार किया, पर उनका एक भी कार्य उनके स्वयं के लिये नहीं था। उनका प्रत्येक कार्य दूसरों की भलाई के लिये ही था। हम दिये के प्रकाश में गीता का पठन कर रहे हैं, पर अनेक पतिंगे दिये से जलकर मरते जा रहे हैं। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कर्म में कुछ-न-कुछ दोष रहता ही है। जो अपना क्षुद्र अहं-भाव भूलकर कार्य करते हैं, उन पर इन दोषों का प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वे संसार की भलाई के लिये कर्म करते हैं। निष्काम और अनासक्त होकर कार्य करने से हमें परम आनन्द और मुक्ति की प्राप्ति होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कर्मयोग के इसी रहस्य की शिक्षा दी है।

---

(५)

उच्चतर जीवन के लिये साधनायें

यदि जगत् की गति क्रमावनति की ओर हो, यदि उसका पूर्वावस्था की ओर पुनरावर्तन हो, तो यह हमारी पतनावस्था होती है; और यदि उसकी गति क्रमविकास की ओर हो तो यह हमारा उत्थान-काल होता है। अतः हमें पूर्वावस्था की ओर इस गति को नहीं जाने देना चाहिये। सर्वप्रथम तो हमारा शरीर ही हमारे अध्ययन का विषय बनना चाहिये। पर कठिनाई तो यह है कि हम पड़ोसियों को ही सीख देने में अत्यन्त अधिक व्यस्त रहा करते हैं! हमें अपने शरीर से ही प्रारम्भ करना चाहिये। फुफ्फुस, यकृत आदि की गति क्रमावनति की ओर है—ये स्वतः विकासोन्मुख नहीं हैं; इन्हें ज्ञान के क्षेत्र में ले आओ, इन पर नियंत्रण रखो ताकि इनका परिचालन तुम्हारी इच्छानुसार हो सके। एक समय था जब हमारा यकृत पर नियंत्रण था; हम अपना सारा चर्म उसी प्रकार हिला सकते थे जैसे एक गाय। मैंने अनेक व्यक्तियों

को कठोर अभ्यास-द्वारा इस नियंत्रण को पुनः प्राप्त करते देखा है। एक बार छाप लगी कि मिटती नहीं। अज्ञान के नीड़ में सुप्त कर्मों के विपाक सागर को ज्ञान के प्रकाश में ले आओ। यही हमारे अध्ययन का पहला पाठ है, और हमारे सामाजिक कल्याण के लिये इसकी नितान्त आवश्यकता है। दूसरी ओर, केवल चेतनशक्ति का ही सर्वदा अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं।

इसके बाद है अध्ययन का दूसरा पाठ, जिसकी हमारे सामाजिक जीवन में उतनी आवश्यकता नहीं—और वह है मुक्ति का मार्ग। इसका प्रत्यक्ष कार्य है आत्मा को मुक्त करना, अंधकार में रोशनी ले जाकर जो पीछे अवस्थित है उसे स्वच्छ कर, हिलाकर, यहाँ तक कि उसे ललकार कर, अन्धकार को भेदकर हमें अग्रसर कराना। यही लक्ष्य है—यही ज्ञान से परे की अवस्था है। जब उस अवस्था की उपलब्धि हो जाती है, तब यही मानव देव-मानव बन जाता है, मुक्त हो जाता है। और उस मन के सम्मुख, जिसे सर्व विषयों से परे जाने का इस प्रकार अभ्यास हो गया है, यह जगत् क्रमशः अपने रहस्य खोलता जाता है; प्रकृति की पुस्तक के पन्ने एक एक करके उलटते जाते हैं जब तक कि इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती; और तब हम जन्म और मृत्यु की इस घाटी से उस 'एक' की ओर प्रयाण करते हैं जहाँ जन्म और मृत्यु—किसी का अस्तित्व नहीं है; तब हम सत्य को जान लेते हैं और सत्यस्वरूप बन जाते हैं।

हमें पहले जिस बात की आवश्यकता है, वह है कोलाहलहीन

शान्तिमय जीवन। यदि दिन भर मुझे पेट की चिन्ता के लिये संसार की खाक छानना पड़े तो इस जीवन में कोई भी उच्च उपलब्धि मेरे लिये एक कठिन समस्या है। हो सकता है, मैं अगले जन्म में कुछ अधिक अनुकूल वातावरण में जन्म लूँ। यदि मैं सचमुच अपनी धुन का पक्का हूँ, तो इसी जन्म में ये ही वातावरण परिवर्तित हो जायेंगे। क्या कभी ऐसा हुआ है कि तुम्हें वह चीज़ न मिली हो जिसे तुम हृदय से चाहते थे! ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। क्योंकि ज़रूरत ही—वासना ही शरीर का निर्माण करती है। यह प्रकाश ही है जिसने तुम्हारे सिर में मानो दो छेद कर दिये हैं, जिन्हें आँख कहा जाता है। यदि प्रकाश का अस्तित्व न होता, तो तुम्हारी आँखें भी न रहतीं। यह ध्वनि ही है जिसने कानों का निर्माण किया है। तुम्हारी इन्द्रियों की सृष्टि के पहले से ही ये इन्द्रियगम्य वस्तुएँ विद्यमान हैं। कतिपय सहस्र वर्षों में, या सम्भव है इससे कुछ पहले ही, हममें शायद ऐसी इन्द्रियों की भी सृष्टि हो जाय, जिससे हम विद्युत्-प्रवाह और प्रकृति में होनेवाली अन्य घटनाओं को भी देख सकें। शान्तिमय मन में कोई वासना नहीं रहती। जब तक इच्छाओं की पूर्ति के लिये बाहर में कोई सामग्री न हो, इच्छा की उत्पत्ति नहीं होती। बाहर की वह सामग्री शरीर में मानो एक छिद्र कर मन में प्रवेश करने का प्रयत्न करती है। अतः यदि एक शान्तिमय कोलाहलहीन जीवन के लिये इच्छा उठे, जहाँ सभी कुछ मन के विकास के लिये अनुकूल होगा तो यह निश्चय जानो कि वह अवश्य पूर्ण होगी—यह मैं अपने

अनुभव से कह रहा हूँ। भले ही ऐसे जीवन की प्राप्ति सहस्रों जन्म के बाद हो, पर उसकी प्राप्ति अवश्यमेव होगी। उस इच्छा को बनाये रखो—मिटने न दो—उसकी पूर्ति के लिये प्राणपण चेष्टा करते रहो। यदि तुम्हारे लिये कोई वस्तु बाहर में न रहे तो तुममें उसके लिये प्रबल इच्छा उत्पन्न हो ही नहीं सकती। पर तुमको यह जान लेना चाहिये कि इच्छा-इच्छा में भी भेद होता है। गुरु ने कहा, "मेरे बच्चे, यदि तुम भगवत्प्राप्ति की इच्छा रखते हो, तो अवश्य ही तुम्हें भगवान का लाभ होगा।" शिष्य ने गुरु का मन्तव्य पूर्णतया नहीं समझा। एक दिन दोनों अवगाहनार्थ एक नदी में गये। गुरु ने शिष्य से कहा, "डुबकी लगाओ," और शिष्य ने डुबकी लगाई। एकदम गुरु ने शिष्य के सिर को पकड़ लिया और उसे पानी में डुबाए रखा। उन्होंने शिष्य को ऊपर नहीं आने दिया। जब वह लड़का ऊपर आने की कोशिश करते करते थक गया, तब गुरु ने उसे छोड़ दिया और पूछा, "अच्छा, मेरे बच्चे, बताओ तो सही, तुम्हें पानी के अन्दर कैसा लग रहा था?" "ओफ! एक साँस लेने के लिये मेरा जी निकल रहा था!" "क्या ईश्वर के लिये भी तुम्हारी इच्छा उतनी ही प्रबल है?" "नहीं, गुरुजी।" "तब ईश्वर-प्राप्ति के लिये वैसी ही उत्कट इच्छा रखो, तुम्हें ईश्वर के दर्शन होंगे।"

जिसके बिना हम जीवित नहीं रह सकते, वह वस्तु हमें प्राप्त होगी ही। यदि हमें उसकी प्राप्ति न हो तो जीवन दूभर हो उठेगा—जीवनरूपी टिमटिमाता दीपक गुल हो जायगा।

यदि तुम योगी होना चाहते हो, तो तुम्हें स्वतंत्र होना पड़ेगा, और अपने आपको ऐसे वातावरण में रखना होगा जहाँ तुम सर्व चिन्ताओं से मुक्त होकर अकेले रह सकते हो। जो आराममय और विलासमय जीवन की इच्छा रखते हुए आत्मानुभूति की चाह रखता है, वह उस मूर्ख के समान है जिसने नदी पार करने के लिये, एक मगर को लकड़ी का लट्ठा समझकर पकड़ लिया। "ओ, तुम लोग पहले ईश्वर के राज्य और धर्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो, और शेष ये सब वस्तुएँ तुम्हारे पास अपने आप ही आ जाएँगी।" जो किसी की परवाह नहीं करता, उसी के पास सभी आते हैं। भाग्य एक चोचलेबाज स्त्री के समान है; जो उसे चाहता है, उसकी वह परवाह ही नहीं करती, पर जो व्यक्ति उसकी परवाह करता नहीं, उसके चरणों पर वह लोटती रहती है। जिसे धन की कोई कामना नहीं, लक्ष्मी उसी के घर छप्पर फोड़कर आती है; इसी प्रकार नाम-यश भी अयाचक के पास ढेर-के-ढेर में आता है, यहाँ तक कि यह सब उसके लिये एक कष्टप्रद बोझा हो जाता है। सदैव स्वामी के पास ही यह सब आता है। गुलाम को कभी कुछ नहीं मिलता। स्वामी तो वह है जो बिना इन सबके रह सके, जिसका जीवन संसार की क्षुद्र सारहीन वस्तुओं पर अवलम्बित नहीं रहता। एक आदर्श के लिए—और केवल एक आदर्श के लिये जीवित रहो। उस आदर्श को इतना ना विशाल व महान् होने दो जिससे मन के अन्दर और ने पाये; मन में अन्य किसी के लिये भी स्थान न रहे,

अन्य किसी विषय पर सोचने के लिये समय ही न रहे।

क्या तुमने देखा नहीं, किस प्रकार कुछ लोग धनी बनने की वासनारूपी अग्नि में अपनी समस्त शक्ति, समय, बुद्धि, शरीर, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व स्वाहा कर देते हैं। उन्हें जलपान करने तक के लिये फुरसत नहीं मिलती। पक्षियों के कलरव से पूर्व ही उठकर वे बाहर चले जाते हैं और काम में लग जाते हैं। इसी प्रयत्न में उनमें से नब्बे प्रतिशत लोग काल के कराल गाल में प्रविष्ट हो जाते हैं, और शेष लोग यदि पैसा कमाते भी हैं तो उसका उपभोग नहीं कर पाते। कैसा मजा है! मैं यह नहीं कहता कि धनवान बनने के लिये प्रयत्न करना बुरा है। यह बहुत ही अद्भुत है, आश्चर्यजनक है; क्यों, यह क्या दर्शाता है? इससे यही ज्ञात होता है कि हम मुक्ति के लिये उतना ही प्रयत्न कर सकते हैं, उतनी ही शक्ति लगा सकते हैं जितना कि एक व्यक्ति धनोपार्जन के लिये। हम जानते हैं कि मरने के उपरान्त हमें धन इत्यादि सभी कुछ छोड़ देना पड़ेगा, तिस पर भी देखो, हम इनके लिये कितनी शक्ति खर्च कर देते हैं! अतः हम उन्हीं व्यक्तियों को उस वस्तु की प्राप्ति के लिये, जिसका कि कभी नाश नहीं होता, और जो चिर-काल तक हमारे साथ रहती है, क्या सहस्रगुनी अधिक शक्ति नहीं लगानी चाहिये? क्योंकि, हमारे अपने शुभ कर्म, हमारी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ यह सब हमारा एक ऐसा साथी है जो हमारी देह-नाश के बाद भी हमारे साथ आता है। और शेष सब कुछ देह के साथ यहीं पड़ा

यदि तुम योगी होना चाहते हो, तो तुम्हें स्वतंत्र होना पड़ेगा, और अपने आपको ऐसे वातावरण में रखना होगा जहाँ तुम सर्व चिन्ताओं से मुक्त होकर अकेले रह सकते हो। जो आराममय और विलासमय जीवन की इच्छा रखते हुए आत्मानुभूति की चाह रखता है, वह उस मूर्ख के समान है जिसने नदी पार करने के लिये, एक मगर को लकड़ी का लट्ठा समझकर पकड़ लिया। "ओ, तुम लोग पहले ईश्वर के राज्य और धर्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो, और शेष ये सब वस्तुएँ तुम्हारे पास अपने आप ही आ जाएँगी।" जो किसी की परवाह नहीं करता, उसी के पास सभी आते हैं। भाग्य एक चोचलेबाज स्त्री के समान है; जो उसे चाहता

ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सम्पूर्णतया बुरी हो। यहाँ शैतान की भी उसी भाँति उपयोगिता है जैसे कि ईश्वर की, नहीं तो शैतान यहाँ रहता ही नहीं। जैसे मैंने तुमसे कहा ही है, हम नरक में से होकर ही स्वर्ग की ओर प्रयाण करते हैं। हमारी भूलों की भी यहाँ उपयोगिता है। बढ़े चलो! यदि तुम सोचते हो कि तुमने कोई अनुचित कार्य किया है तो भी पीछे फिरकर न देखो। यदि पहले तुमने इन गलतियों को न किया होता तो क्या तुम विश्वास करते हो कि आज तुम जैसे हो, वैसे कभी हो सकते? अतः अपनी भूलों को आशीर्वाद दो। वे अदृश्य देव-दूतों के समान रही हैं। तुम धन्य हो, दुःख! धन्य हो, सुख! तुम्हारे मत्थे क्या आता है इसकी परवाह न करो। आदर्श को पकड़े रहो। आगे बढ़ते चलो! छोटी-छोटी बातों और भूलों पर ध्यान न दो! हमारी इस रणभूमि में भूलों की धूल तो उड़ेगी ही। जो इतने नाजुक हैं कि धूल सहन नहीं कर सकते, उन्हें पंक्ति से बाहर चले जाने दो।

अतः संघर्ष के लिये यह प्रबल निश्चय, ऐहिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये हम जितना प्रयत्न करते हैं उससे सौगुना अधिक प्रबल निश्चय, हमारी प्रथम महान् साधना है।

और फिर उसके साथ ध्यान भी होना चाहिये। ध्यान ही एकमात्र असल बात है। ध्यान करो! ध्यान ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। मन की यह ध्यानावस्था आध्यात्मिक जीवन के निकटतम है। सर्व जड़ पदार्थों से मुक्त होकर आत्मा का अपने बारे में चिन्तन

रह जाता है ।

आदर्शोपलब्धि के लिये वास्तविक इच्छा—यही हमारा पहला और एक बड़ा कदम है । इसके बाद और सब कुछ सहज हो जाता है । इस सत्य का आविष्कार भारतीय मन ने किया । वहाँ भारतवर्ष में, सत्य को ढूँढ़ निकालने में मनुष्य कोई कसर नहीं उठा रखते । पर यहाँ पाश्चात्य देशों में मुश्किल तो यह है कि हरएक बात इतनी सीधी कर दी गई है ! यहाँ का प्रधान लक्ष्य सत्य नहीं, वरन् भौतिक प्रगति है । संघर्ष एक बड़ा पाठ है । ध्यान रखो, संघर्ष इस जीवन में एक बड़ा लाभ है । हम संघर्ष में से होकर ही अग्रसर होते हैं,—यदि स्वर्ग के लिये कोई मार्ग है तो वह नरक में से होकर जाता है । नरक से होकर स्वर्ग—यही सदा का रास्ता है । जब जीवात्मा परिस्थितियों से मुकाबला करते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है, जब मार्ग में इस प्रकार उसकी सहस्रों बार मृत्यु होने पर भी वह निर्भीकता से संघर्ष करता हुआ आगे बढ़ता है और बढ़ता जाता है—तब वह महान् शक्तिशाली बन जाता है और उस आदर्श पर हँसता है जिसके लिये वह अभी तक संघर्ष कर रहा था, क्योंकि वह जान लेता है कि वह स्वयं आदर्श से कहीं अधिक श्रेष्ठ है । मैं—स्वयं मेरी आत्मा ही लक्ष्य है, अन्य और कुछ भी नहीं, क्योंकि ऐसा क्या है जिसके साथ मेरी आत्मा की तुलना की जा सके ! सुवर्ण की एक थैली क्या कभी मेरा आदर्श हो सकती है ? कदापि नहीं ! मेरी आत्मा ही मेरा सर्वोच्च आदर्श है । अपने प्रकृत स्वरूप की अनुभूति ही मेरे जीवन का एकमात्र ध्येय है ।

सिर पर हथौड़े की चोट करो कि "मैं आत्मा हूँ। मैं साक्षी हूँ। मैं नित्य शुभ और कल्याणस्वरूप हूँ। कोई कारण नहीं कि मैं कार्य करूँ, कोई कारण नहीं जो मैं मुगतूँ, मेरे सब कार्यों का अन्त हो चुका है, मैं साक्षीस्वरूप हूँ। मैं अपनी चित्रशाला में हूँ—यह जगत् मेरा अजायबघर है, मैं इन क्रमागत चित्रकारियों को केवल देखता जा रहा हूँ। वे सभी सुन्दर हैं—भले हों या बुरे। मैं अद्भुत कौशल देख रहा हूँ, किन्तु यह समस्त एक है। उस महान् चित्रकार की अनन्त अर्चियाँ।" सचमुच, किसी का अस्तित्व नहीं है—न संकल्प है, न विकल्प। वे ही सब कुछ हैं। ईश्वर—चित्-शक्ति—जगदम्बा लीला कर रही हैं, और हम सब गुड़ियों जैसे हैं, उनकी लीला में सहायक मात्र हैं। यहाँ वे किसी को कभी भिखारी के रूप में सजाती हैं और कभी राजा के रूप में, तीसरे क्षण उसे साधु का रूप दे देती हैं और कुछ ही देर बाद शैतान की वेश-भूषा पहना देती हैं। हम जगन्माता को उनके खेल में सहायता देने के लिये भिन्न भिन्न वेश धारण कर रहे हैं।

जब तक बच्चा खेलता रहता है, तब माँ के बुलाने पर भी नहीं जाता। पर जब उसका खेलना समाप्त हो जाता है तब वह सीधे माँ के पास दौड़ जाता है, फिर 'ना' नहीं कहता। इसी प्रकार हमारे जीवन में भी ऐसे क्षण आते हैं जब हम अनुभव करते हैं कि हमारा खेल हो गया, और हम जगन्माता की ओर दौड़ जाना चाहते हैं। तब, हमारी आँखों में यहाँ के अपने समस्त

—आत्मा का यह अद्भुत संस्पर्श—यही हमारे दैनिक जीवन में एकमात्र ऐसा क्षण है जब हम सांसारिकता से सम्पूर्ण पृथक् रहते हैं।

शरीर हमारा शत्रु है और मित्र भी। तुममें से कौन दुःख सहन कर सकता है? और यदि किसी चित्रकारी में तुम दुःख का दृश्य देखो, तो तुममें से कौन उसे सहन नहीं कर सकता? कारण यह है कि हम चित्र से अपने को एक नहीं करते, क्योंकि चित्र असत् है, अवास्तविक है; हम जानते हैं कि वह एक चित्रकारी मात्र है; हम उसके कृपापात्र नहीं बन सकते, वह हमें चोट नहीं पहुँचा सकता। यही नहीं, यदि परदे पर एक भयानक दुःख चित्रित किया गया हो तो शायद हम उसका मज़ा भी ले सकते हैं। हम चित्रकार की कला की बड़ाई करते हैं, हम उसकी असाधारण प्रतिभा पर आश्चर्यचकित हो जाते हैं, यह जानकर भी कि चित्रित दृश्य भयंकरता की कठोरतम अभिव्यक्ति है। इसका रहस्य क्या है, जानते हो? अनासक्ति ही इसका रहस्य है। अतएव केवल साक्षी बनकर रहो।

जब तक 'मैं साक्षी हूँ' इस भाव तक तुम नहीं पहुँचते, तब तक प्राणायाम व योग की भौतिक क्रियायें इत्यादि किसी काम की नहीं। यदि खूनी हाथ तुम्हारी गर्दन पकड़ ले तो कहो, "मैं साक्षी हूँ! मैं साक्षी हूँ!" कहो, "मैं आत्मा हूँ! कोई भी बुरी वस्तु मुझे स्पर्श नहीं कर सकती।" यदि मन में बुरे उठें तो वही बार बार दुहराओ, यह कह-कहकर उनके

सिर पर हथौड़े की चोट करो कि "मैं आत्मा हूँ। मैं साक्षी हूँ। मैं नित्य शुभ और कल्याणस्वरूप हूँ। कोई कारण नहीं कि मैं कार्य करूँ, कोई कारण नहीं जो मैं भुगतूँ, मेरे सब कार्यों का अन्त हो चुका है, मैं साक्षीस्वरूप हूँ। मै अपनी चित्रशाला में हूँ—यह जगत् मेरा अजायब-घर है, मैं इन क्रमागत चित्रकारियों को केवल देखता जा रहा हूँ। वे सभी सुन्दर है—भले हों या बुरे। मैं अद्भुत कौशल देख रहा हूँ, किन्तु यह समस्त एक है। उस महान् चित्रकार की अनन्त अर्चियाँ।" सचमुच, किसी का अस्तित्व नहीं है—न संकल्प है, न विकल्प। वे ही सब कुछ हैं। ईश्वर—चित्-शक्ति—जगदम्बा लीला कर रही हैं, और हम सब गुड़ियों जैसे हैं, उनकी लीला में सहायक मात्र हैं। यहाँ वे किसी को कभी भिखारी के रूप में सजाती हैं और कभी राजा के रूप में, तीसरे क्षण उसे साधु का रूप दे देती हैं और कुछ ही देर बाद शैतान की वेश-भूषा पहना देती हैं। हम जगन्माता को उनके खेल में सहायता देने के लिये भिन्न भिन्न वेश धारण कर रहे हैं।

जब तक बच्चा खेलता रहता है, तब माँ के बुलाने पर भी नहीं जाता। पर जब उसका खेलना समाप्त हो जाता है तब वह सीधे माँ के पास दौड़ जाता है, फिर 'ना' नहीं कहता। इसी प्रकार हमारे जीवन में भी ऐसे क्षण आते हैं जब हम अनुभव करते हैं कि हमारा खेल हो गया, और हम जगन्माता की ओर दौड़ जाना चाहते हैं। तब, हमारी आँखों में यहाँ के अपने समस्त

—आत्मा का यह अद्भुत संस्पर्श —यही हमारे दैनिक जीवन में एकमात्र ऐसा क्षण है जब हम सांसारिकता से सम्पूर्ण पृथक् रहते हैं।

शरीर हमारा शत्रु है और मित्र भी। तुममें से कौन दुःख सहन कर सकता है? और यदि किसी चित्रकारी में तुम दुःख का दृश्य देखो, तो तुममें से कौन उसे सहन नहीं कर सकता? कारण यह है कि हम चित्र से अपने को एक नहीं करते, क्योंकि चित्र असत् है, अवास्तविक है; हम जानते हैं कि वह एक चित्रकारी मात्र है; हम उसके कृपापात्र नहीं बन सकते, वह हमें चोट नहीं पहुँचा सकता। यही नहीं, यदि परदे पर एक भयानक दुःख चित्रित किया गया हो तो शायद हम उसका मज़ा भी ले सकते हैं। हम चित्रकार की कला की बड़ाई करते हैं, हम उसकी असाधारण प्रतिभा पर आश्चर्यचकित हो जाते हैं, यह जानकर भी कि चित्रित दृश्य भयंकरता की कठोरतम अभिव्यक्ति है। इसका रहस्य क्या है, जानते हो? अनासक्ति ही इसका रहस्य है। अतएव केवल साक्षी बनकर रहो।

जब तक 'मैं साक्षी हूँ' इस भाव तक तुम नहीं पहुँचते, तब तक प्राणायाम व योग की भौतिक क्रियायें इत्यादि किसी काम की नहीं। यदि खूनी हाथ तुम्हारी गर्दन पकड़ ले तो कहो, "मैं साक्षी हूँ! मैं साक्षी हूँ!" कहो, "मैं आत्मा हूँ! कोई भी बाहरी वस्तु मुझे स्पर्श नहीं कर सकती।" यदि मन में बुरे विचार उठें तो यही बार बार दुहराओ, यह कह-कहकर उनके

(६)

आत्मा और विश्व

प्रकृति में प्रत्येक वस्तु सूक्ष्म बीज रूप से प्रारम्भ होकर अधिकाधिक स्थूल रूप धारण करती है। कुछ समय तक उसकी स्थिति रहती है और फिर प्रारम्भवाले सूक्ष्म बीज में ही उसका लय हो जाता है। उदाहरणार्थ, यह हमारी पृथ्वी एक नीहारिका-सदृश पदार्थ से उत्पन्न हुई, और ठंडी होते होते उसने यह ठोस ग्रह-रूप धारण कर लिया जिस पर हम रहते हैं। भविष्य में पुनः इसके टुकड़े टुकड़े हो जायेंगे और यह आदिम नीहारिका की दशा को वापस चली जायगी। विश्व में अनादि काल से यही हो रहा है। मनुष्य, प्रकृति और जीवन का यही सम्पूर्ण इतिहास है।

प्रत्येक क्रमविकास (Evolution) के पहले उसका क्रमसंकोच (Involution) रहता है, प्रत्येक व्यक्त दशा के पहले उसकी अव्यक्त दशा रहती है। समूचा वृक्ष सूक्ष्म रूप से

है। इस जगत् की परिसमाप्ति कहाँ है? —चैतन्य में। सोचो, क्या ऐसा नहीं है? विकासवादियों के मतानुसार सृष्टि-क्रम में चैतन्य ही का विकास सबसे अन्त में हुआ। अतएव सृष्टि का प्रारम्भ या कारण भी चैतन्य ही होना चाहिये। प्रारम्भ में यह चैतन्य अव्यक्त अवस्था में रहता है और क्रमशः वही व्यक्त रूप में प्रकट होता है। अतः विश्व में पाये जानेवाले समस्त चैतन्यों की समष्टि ही वह अव्यक्त विश्व-चैतन्य है जो उन विभिन्न रूपों में प्रकाशित हो रहा है, और जिसे शास्त्रों ने 'ईश्वर' की संज्ञा दी है। शास्त्र कहते हैं कि हम ईश्वर से ही आते हैं और फिर वहीं लौट जाते हैं। उसे चाहे किसी भी नाम से पुकारो, पर यह तुम इनकार नहीं कर सकते कि प्रारम्भ में वह अनन्त विश्वचैतन्य ही कारणरूप में विद्यमान रहता है।

सम्मिश्रण कैसे बनता है? सम्मिश्रण वह है जिसमें कई कारण मिलकर कार्यरूप में परिणत हो गये हों। अतः ये सम्मिश्रण केवल कार्य-कारण-वृत्त के अन्दर ही सीमित रहते हैं। जहाँ तक कार्य और कारण के नियमों की पहुँच है, वहीं तक सम्मिश्रण सम्भव है। उसके आगे, सम्मिश्रण की बात करना ही असम्भव है, क्योंकि वहाँ तो कोई नियम लागू हो ही नहीं सकता। नियम केवल उस जगत् में ही लागू होता है जहाँ हम देख, सुन, अनुभव और कल्पना कर सकते हैं। उसके आगे हम किसी नियम की कल्पना ही नहीं कर सकते। यही हमारा जगत् है जिसका ज्ञान हमें इन्द्रियों या अनुमान-द्वारा होता है। इन्द्रियों से हम वे बातें

जानते हैं जो उनकी पहुँच के भीतर हैं, और जो बातें हमारे मन में हैं, उन्हें हम अनुमान-द्वारा जानते हैं। जो कुछ शरीर से परे है, वह इन्द्रियगम्य नहीं है, और जो मन से परे है, वह अनुमान या विचार के अतीत है, अत: वह हमारे जगत् से बाहर की वस्तु है और इसीलिये वह कार्यकारण-नियम के भी अतीत है। मनुष्य की आत्मा कार्यकारण-नियम से परे होने के कारण सम्मिश्रण नहीं है, किसी कारण का परिणाम नहीं है, अतएव वह नित्य-मुक्त है और नियम के भीतर जो कुछ सीमित है, उस सबका शासन-कर्ता है। चूँकि वह सम्मिश्रण नहीं है, इसलिये उसकी मृत्यु कभी न होगी, क्योंकि मृत्यु का अर्थ है उन सब उपादानों में परिणत हो जाना, जिनसे वस्तु निर्मित हुई है, विनाश का अर्थ है कार्य का अपने कारण में वापस चला जाना। जब आत्मा की मृत्यु नहीं हो सकती तो उसका जन्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन और मृत्यु एक ही वस्तु की दो विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। अतएव आत्मा जन्म और मृत्यु से परे है। तुम्हारा जन्म कभी हुआ ही नहीं, और मृत्यु भी कभी नहीं होगी। जन्म और मृत्यु तो केवल शरीर के धर्म हैं।

अद्वैतवाद कहता है कि 'अस्तित्व' रखनेवाली सभी वस्तुओं की समष्टि ही का नाम विश्व है। स्थूल या सूक्ष्म जो कुछ भी है सो यही है। कारण और कार्य दोनों यही हैं; सभी का स्पष्टीकरण और समाधान भी यही है। जिसे हम 'व्यष्टि' कहते हैं, वह 'समष्टि' ही की अभिव्यक्ति मात्र है। अपनी आत्मा के भीतर से

(७)

सच्चा गुरु कौन है ?

सच्चा गुरु वह है जो समय-समय पर आध्यात्मिक शक्ति के भंडार के रूप में अवतीर्ण होता है, और गुरु-शिष्य-परम्परा-द्वारा उस शक्ति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लोगों में संचरित करता है। जिस प्रकार एक विशाल नदी अपने पुराने मार्ग को छोड़कर एक दूसरे ही मार्ग से बहने लगती है, उसी प्रकार इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रवाह भी समय-समय पर अपनी गति बदलता रहता है। अतएव, देखा जाता है कि कालान्तर में धर्म के पुराने सम्प्रदाय निर्जीव हो जाते हैं, और नव-जीवन के जोश से भरे नूतन सम्प्रदायों का अभ्युदय होता है। बुद्धिमान पुरुष उसी सम्प्रदाय का आश्रय लेते हैं जिसमें से जीवन-धारा प्रवाहित होती है। पुराने धार्मिक सम्प्रदाय अजायब-घर में सुरक्षित रखे हुए किसी समय के भीमकाय पशुओं के कंकाल के समान हैं। तो भी, इन प्राचीन सम्प्रदायों का हमें उचित आदर करना

(८)

कला

यूनानी कला का रहस्य है प्रकृति का अनन्त बारीकी के साथ अनुकरण करना, पर भारतीय कला का रहस्य है आदर्श की अभिव्यक्ति करना। यूनानी चित्रकार की समस्त शक्ति कदाचित् मांस के एक टुकड़े को चित्रित करने में ही व्यय हो जाती है, और वह उसमें इतना सफल होता है कि यदि कुत्ता उसे देख ले तो उसे सचमुच का मांस समझकर खाने दौड़ आए। पर देखो, इस प्रकार प्रकृति के अनुकरण में क्या गौरव है! यदि यही करना है तो क्यों न कुत्ते के सामने यथार्थ मांस का एक टुकड़ा फेंक दिया जाय!

और दूसरी ओर, भारतीयों की, आदर्श को—अतीन्द्रिय को अभिव्यक्त करने की यह जो प्रवृत्ति है, वह भद्दे, चित्रों और मूर्तियों के चित्रण तथा निर्माण

में पतित हो गई है। वास्तविक कला की उपमा कुमुदिनी से दी जा सकती है जो कि पृथ्वी से उत्पन्न होती है, उसी से अपना खाद्य पदार्थ ग्रहण करती है, उसके संस्पर्श में रहती है, किन्तु फिर भी उससे ऊपर ही उठी रहती है। इसी प्रकार कला का भी प्रकृति से सम्पर्क होना चाहिये—क्योंकि यह सम्पर्क न रहने पर कला का पतन हो जाता है—पर साथ ही कला का प्रकृति से ऊँचा उठा रहना भी आवश्यक है।

कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक वस्तु कलापूर्ण होनी चाहिये।

शिल्पकला और साधारण मकान में अन्तर यह है कि शिल्पकृति एक भावना को प्रकट करती है, जबकि साधारण भवन का आधार केवल उपयोगिता है। जड़ पदार्थ का महत्व भावना को प्रकट कर सकने की उसकी योग्यता पर ही निर्भर रहता है।

हमारे भगवान श्रीरामकृष्ण देव में कला-शक्ति का बड़ा उच्च विकास हुआ था, और वे कहा करते थे कि बिना इस शक्ति के कोई भी व्यक्ति यथार्थ आध्यात्मिकता की प्राप्ति नहीं कर सकता।

---

(९)

भाषा

भाषा का रहस्य है सरलता। भाषा-सम्बन्धी मेरा आदर्श है मेरे गुरुदेव की भाषा, जो थी तो ठेठ बोल-चाल की भाषा, पर किसी भी भाव को पूर्णतया प्रकट करने का सामर्थ्य रखती थी। भाषा तो वह है जिसमें बोलनेवाला अपना मन्तव्य सम्पूर्णतः प्रकाशित कर सके।

बंगला भाषा को इतने थोड़े समय में पूर्णता पर पहुँचा देने का प्रयास उसे जटिल और लोचहीन बना देगा। वास्तव में इसमें क्रियापदों का अभाव-सा है। माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपनी कविता में इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया है। बंगाल के सबसे बड़े कवि कविकंकण थे। संस्कृत में सर्वोत्कृष्ट गद्य पतंजलि का महाभाष्य है। उसकी भाषा जीवन-प्रद है। हितोपदेश की भाषा भी बुरी नहीं, पर कादम्बरी की भाषा ह्रास का उदाहरण है।

बंगला भाषा का आदर्श संस्कृत न होकर पाली भाषा होना चाहिये, क्योंकि पाली बंगला से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। पर बंगला में पारिभाषिक शब्दों को बनाने अथवा उनका अनुवाद करने में संस्कृत शब्दों का व्यवहार उचित है। नये शब्दों के गढ़न का भी प्रयत्न होना चाहिये। इसके लिये, यदि संस्कृत के कोष से पारिभाषिक शब्दों का संग्रह किया जाय, तो उससे बंगला भाषा के निर्माण में बड़ी सहायता मिलेगी।

---

(१०)

संन्यासी

संन्यासी शब्द का अर्थ समझाते हुए, अमेरिका के बोस्टन नामक शहर में स्वामीजी ने अपने एक व्याख्यान के सिलसिले में कहा :—

जब मनुष्य, जिस स्थिति में वह पैदा हुआ है उसके कर्तव्य पूरे कर लेता है, जब उसकी आकांक्षायें सांसारिक सुख-भोग, धन-सम्पत्ति, नाम-यश, अधिकार आदि को ठुकराकर उसे आध्यात्मिक जीवन की खोज में प्रेरित करती हैं, और जब संसार के स्वभाव में पैनी दृष्टि डालकर वह समझ जाता है कि यह जगत क्षणभंगुर है, दुःख तथा झगड़ों से भरा हुआ है और इसके आनन्द तथा भोग तुच्छ हैं, तब वह इन सबसे मुख मोड़कर शाश्वत प्रेम तथा चिरन्तन आश्रयस्वरूप उस सत्य को ढूँढ़ने लगता है। वह समस्त सांसारिक अधिकारों, यश, सम्पदा से संन्यास ले लेता है

और आत्मोत्सर्ग करके आध्यात्मिकता को निरन्तर ढूँढ़ता हुआ प्रेम, दया तथा शाश्वत ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है। वर्षों के ध्यान, तप और खोज से ज्ञानरूपी रत्न को पाकर वह स्वयं गुरु बन जाता है, और फिर मुमुक्षु शिष्यों में उस ज्ञान का संचार कर देता है।

संन्यासी का कोई मत या सम्प्रदाय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका जीवन स्वतंत्र विचार का होता है, और वह सभी मत-मतान्तरों से उनकी अच्छाइयाँ ग्रहण करता है। उसका जीवन अनुभव का होता है, न कि केवल सिद्धान्तों अथवा रूढ़ियों का।

---

(११)

संन्यासी और गृहस्थ

संन्यासियों के कार्यों पर संसारी लोगों का कुछ भी प्रभाव नहीं होना चाहिये। संन्यासी का धनी लोगों से कोई वास्ता नहीं, उसका सम्पर्क तो गरीबों से होता है। उसे निर्धनों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिये और हर्षपूर्वक अपनी समस्त शक्ति लगाकर उनकी सेवा करनी चाहिये। धनिकों का आदर-सत्कार करना और आश्रय के लिये उनका मुँह जोहना यह हमारे देश के संन्यासी-सम्प्रदाय के लिये एक अभिशापस्वरूप रहा है। सच्चे संन्यासी को इस बात में बड़ा सावधान रहना चाहिये और इससे बिलकुल बचकर रहना चाहिये। इस प्रकार का व्यवहार तो वेश्याओं के लिये ही उचित है, न कि संसार-त्यागी संन्यासी के लिये। कामिनी-कांचन में लिप्त व्यक्ति उनका भक्त कैसे हो सकता है जिनके जीवन का मुख्य आदर्श कामिनी-कांचन-त्याग है!

श्रीरामकृष्ण तो रो-रोकर जगन्माता से प्रार्थना किया करते थे, "
मेरे पास बात करने के लिये एक तो ऐसा भेज दो जिसमें क
कांचन का लेश मात्र भी न हो। संसारी लोगों से बातें करने
मेरा मुँह जलने लगता है।" वे यह भी कहा करते थे, "
अपवित्र और विषयी लोगों का स्पर्श तक सहन नहीं होता
यतिराज श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार विषयी लोगों
कभी नहीं हो सकता। ऐसे लोग कभी भी पूर्ण सच्चे नह
सकते; क्योंकि उनके कार्यों में कुछ-न-कुछ स्वार्थ रहता ही
यदि स्वयं भगवान भी संसारी के रूप में अवतीर्ण हों, तो मैं
भी सच्चा न समझ सकूँगा। जब कोई गृहस्थ किसी ध
सम्प्रदाय के नेता-पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है तो वह आद
ओट में अपना ही स्वार्थ-साधन करने लगता है। और फल
होता है कि वह सम्प्रदाय बिल्कुल सड़-सा जाता है। ग
के नेतृत्व में सभी धार्मिक आन्दोलनों ने अपना यही नसीब
है। त्याग के बिना धर्म खड़ा ही नहीं रह सकता।

यहाँ पर स्वामीजी से पूछा गया—'कांचन-त्याग से
संन्यासी क्या अर्थ समझें?' उन्होंने उत्तर दिया—

किसी भी उद्देश्य की सिद्धि के लिये हमें कुछ साध
आश्रय लेना होता है। स्थान, काल, व्यक्ति इत्यादि के भेद
सब साधन बदलते रहते हैं, परन्तु उद्देश्य या साध्य कभी
नहीं। संन्यासियों का लक्ष्य है "आत्मनो मोक्षार्थं जग

सिद्धि के साधनों में काम-कांचन-त्याग सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा प्रयोजनीय है। ध्यान रखो, त्याग का अर्थ है स्वार्थ का सम्पूर्ण अभाव। बाह्य रूप से सम्पर्क न रखने से ही त्याग नहीं हो जाता। जैसे, हम अपना धन दूसरे के पास रखें और स्वयं उसे छूएँ तो नहीं, पर उससे लाभ पूरा उठाएँ—यह त्याग नहीं कहा जा सकता। उपरोक्त द्विविध उद्देश्यों की सिद्धि के हेतु भिक्षावृत्ति संन्यासी के लिये बहुत ही उपयोगी है, पर यह तभी सम्भव है जब गृहस्थ लोग मनु और अन्य शास्त्रकारों के वचनानुसार प्रतिदिन अपने खाद्य-पदार्थों का एक भाग संन्यासी अतिथियों के लिये रख छोड़ें। आजकल समय बदल गया है, जैसे कि मधुकरी की प्रथा—विशेषतः बंगाल में—पाई ही नहीं जाती। यहाँ (बंगाल में) मधुकरी-द्वारा निर्वाह की चेष्टा करना शक्ति का अपव्यय मात्र होगा, और उससे कोई लाभ न होगा। भिक्षा का नियम ऊपर कहे दोनों उद्देश्यों की सिद्धि का साधन मात्र है, पर अब उससे काम नहीं चल सकता। अतएव आधुनिक परिस्थितियों में, यदि संन्यासी जीवन की मोटी-मोटी आवश्यकताओं के लिये कुछ प्रबन्ध कर ले और निश्चिन्त होकर अपनी समस्त शक्ति अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये लगावे, तो यह संन्यास के नियमों के विरुद्ध न होगा। साधनों को ही बहुत अधिक महत्व देने से गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। असल वस्तु तो साध्य है—लक्ष्य है, इसे कभी भी ओझल नहीं होने देना चाहिये।

---

(१२)

अधिकारीवाद के दोष

प्रश्नोत्तरवार्ता एक कक्षा में अधिकारीवाद का प्रसंग आ गया, और उसके दोषों की तीव्र आलोचना करते हुए स्वामीजी ने कहा :—

पुराकाल के ऋषियों के प्रति मेरी असीम श्रद्धा होते हुए भी मैं उनकी लोक-शिक्षा-पद्धति की आलोचना किये बिना नहीं रह सकता। उन्होंने सर्वदा ही लोगों को कुछ नियमों का पालन करने के लिये आदेश दिया, और जान-बूझकर उन्होंने उनका कारण न बतलाया। यह पद्धति नितान्त दोषपूर्ण थी, और इससे उद्देश्य की सिद्धि तो हुई नहीं, केवल लोगों के सिर पर निरर्थक बातों का एक बोझ-सा लद गया। लोगों से उद्देश्य को छिपा रखने का उनका कारण यह था कि

समझ भी [

उसके अधिकारी नहीं थे। यदि तुम किसी मनुष्य को इन शिक्षाओं को ग्रहण करने में असमर्थ समझते हो, तब तो तुम्हें उसे और भी परिश्रम से सिखलाने का प्रयत्न करना चाहिये, उसे शिक्षा की और भी अधिक सुविधा देनी चाहिये, न कि कम, ताकि वह अपनी बुद्धि का विकास कर सके और इस तरह सूक्ष्मतर विषयों और समस्याओं को समझने में समर्थ हो सके। अधिकारीवाद के इन समर्थकों ने इस महान् सत्य की उपेक्षा कर दी कि मानव-आत्मा की क्षमता असीम है। प्रत्येक मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम है यदि उसे शिक्षा उसकी ग्रहण-शक्ति के अनुसार दी जाय। यदि कोई शिक्षक किसी को कुछ समझा नहीं सकता तो उसको स्वयं अपनी ही अयोग्यता पर रोना चाहिये कि वह लोगों को उनकी ग्रहण-शक्ति के अनुसार शिक्षा नहीं दे पाता, बजाय इसके कि वह उन लोगों को कोसे और कहे, "तुम लोग अज्ञान और कुसंस्कार के बीच ही पड़े सड़ते रहो, क्योंकि उच्चतर ज्ञान तुम लोगों के लिये नहीं है।" निर्भयतापूर्वक सत्य की घोषणा करो, यह न डरो कि इससे कमज़ोर बुद्धिवाले भ्रम में पड़ जाएँगे। मनुष्य स्वार्थी होते हैं, वे यह नहीं चाहते कि कोई दूसरा उनके ज्ञान के स्तर तक पहुँच जाय, क्योंकि उन्हें भय होता है कि कहीं उनकी प्रतिष्ठा या अधिकार चले न जायँ। उनका कहना है कि उच्च आध्यात्मिक तत्वों का ज्ञान साधारण लोगों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न कर देगा, जैसा कि गीता में कहा गया है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥ —३।२६

अर्थात् "विषयासक्त अज्ञानी मनुष्यों को ज्ञान की शिक्षा देकर उनकी बुद्धि में भ्रम न उत्पन्न करना चाहिये; बुद्धिमान मनुष्य को स्वयं कर्म में लगे रहकर अज्ञानी लोगों को सभी कार्यों में लगाये रखना चाहिये।"

मैं इस अपवाद में विश्वास नहीं कर सकता कि प्रकाश से और भी घना अन्धकार होता है। यह तो सच्चिदानन्द-सागर में—अमरत्व के सिन्धु में मर जाने के समान हुआ! कैसी असम्भव बात है यह! ज्ञान का अर्थ ही है अज्ञानवश होनेवाले भ्रम से मुक्ति। और यह कैसी विचित्र बात होगी, यदि हम कहें कि ज्ञान भ्रम के लिये रास्ता बना देता है, प्रबोधन भ्रान्ति की कालिमा फैला देता है! ऐसा कभी हो सकता है! मनुष्य इतने निर्भीक नहीं कि उदार सत्यों की घोषणा करें, क्योंकि वे डरते हैं कि कहीं उनकी प्रतिष्ठा न चली जाय। अतः वे यथार्थ शाश्वत सत्यों और जनता के अर्थहीन कुसंस्कारों में समझौता करने की चेष्टा करते हैं, और इस तरह लोकाचारों तथा देशाचारों की सृष्टि कर यह सिद्धान्त गढ़ देते हैं कि सब लोगों को इन विविध आचारों का पालन करना ही होगा। पर देखो, इस प्रकार के समझौते को तिलांजलि दे दो; आँखों में धूल झोंकने की चेष्टा न करो, मुर्दों को फूलों में न छिपाओ। 'तथापि लोकाचारो'—'फिर भी लोकाचार का तो पालन करना ही होगा', इस प्रकार के वाक्यों को नष्ट कर फेंक दो। इनमें कोई अर्थ नहीं। इस प्रकार के समझौते का फल यही होता है कि महान् सत्य कूड़ा-

कचरा के ढेरों में दब जाते हैं, और ऊपर के ये कूड़ा-करकट ही आग्रहपूर्वक यथार्थ सत्य मान लिये जाते हैं। श्रीकृष्ण-द्वारा स्पष्ट रूप से घोषित किये हुए गीता के महान् सत्यों पर भी बाद के टीकाकारों ने इसी प्रकार के समझौतों का रंग चढ़ा दिया, और परिणाम यह हुआ कि संसार के इस सर्वोत्कृष्ट धर्म-ग्रंथ में भी आजकल ऐसी बहुतसी बातें पाई जाती हैं जिनसे लोग सत्य मार्ग से भटक जाते हैं।

समझौते के लिये इस प्रकार का प्रयत्न नितान्त कायरता से प्रसूत होता है। अतः वीर बनो। मेरे बच्चों को सबसे पहले वीर बनना चाहिये। किसी भी कारण से तनिक भी समझौता न करो। सर्वोच्च सत्य की मुक्त रूप से घोषणा कर दो। प्रतिष्ठा के नष्ट हो जाने या अप्रिय संघर्ष होने के भय से पीछे मत हटो। यह निश्चय जानो, यदि तुम प्रलोभनों को ठुकराकर सत्य के सेवक बनोगे तो तुममें ऐसी दैवी-शक्ति आ जायगी जिसके सामने लोग तुमसे उन बातों को कहते डरेंगे जिन्हें तुम सत्य नहीं समझते। यदि तुम बिना किसी विक्षेप के लगातार चौदह वर्ष तक सत्य की अनन्य सेवा कर सको, तो तुम जो कुछ कहोगे, लोग उस पर विश्वास कर लेंगे। तब तुम जनता का सबसे बड़ा उपकार करोगे, और उनके बन्धनों को छिन्न कर सम्पूर्ण राष्ट्र को उन्नत कर दोगे।

---

(१२)

भक्तियोग

द्वैतवादी कहता है कि जब तक हाथ में डंडा लिये हुए दंड देने को सदैव प्रस्तुत ईश्वर की कल्पना न की जाय, तब तक मनुष्य नैतिक नहीं हो सकता। यह कैसे? जैसे कि मान लो, कोई घोड़ा मनुष्य को नैतिकता पर उपदेश देने आवे—गाड़ियों में जोता जानेवाला वह मरियल घोड़ा, जो चाबुक की मार खाकर ही चलता है और उस मार का अभ्यस्त हो गया है—और कहे, "सचमुच, मनुष्य बड़े ही अनैतिक हैं।" क्यों?—"इसलिये कि मैं जानता हूँ, उन पर बराबर कोड़ों की मार नहीं पड़ती।" पर सच बात तो यह है, कोड़े का डर तो लोगों को और भी अनैतिक बना देता है।

तुम सभी कहते हो कि ईश्वर है और वे सर्वत्र विद्यमान हैं। ज़रा आँखें बन्द करो और सोचो तो वे क्या हैं। तुम्हें क्या ज्ञान

कचरा के ढेरों में दब जाते हैं, और ऊपर के ये कूड़ा-करकट आग्रहपूर्वक यथार्थ सत्य मान लिये जाते हैं। श्रीकृष्ण-द्वारा स्पष्ट रूप से घोषित किये हुए गीता के महान् सत्यों पर भी बाद के टीकाकारों ने इसी प्रकार के समझौतों का रंग चढ़ा दिया, और परिणाम यह हुआ कि संसार के इस सर्वोत्कृष्ट धर्म-ग्रंथ में भी आजकल ऐसी बहुतसी बातें पाई जाती हैं जिनसे लोग सत्य मार्ग से भटक जाते हैं।

सकता है ! परन्तु उसका मानो प्रतिबिम्ब पड़ सकता है—चाहो तो इसे उसका विषयीकरण कह सकते हो। इस प्रतिबिम्ब का सर्वोत्कृष्ट रूप, ज्ञाता को ज्ञेय रूप में लाने का महत्तम प्रयास—यही सगुण ब्रह्म या ईश्वर है। आत्मा सनातन ज्ञाता है, और हम उसे ज्ञेय रूप में ढालने का निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं। इसी संघर्ष से इस जगत्-प्रपंच की सृष्टि हुई है, इसी प्रयत्न से जड़ पदार्थ आदि की उत्पत्ति हुई है। पर ये सब आत्मा के निम्नतम रूप हैं, और आत्मा का हमारे लिये सम्भव सर्वोच्च ज्ञेय रूप तो वह है जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं। ब्रह्म को जानने का यह प्रयास हमारे स्वयं अपने स्वरूप के प्रकटीकरण का प्रयास है। सांख्य के मतानुसार, प्रकृति यह सब खेल पुरुष को दिखला रही है, और जब पुरुष को यथार्थ अनुभव हो जायगा तब वह अपना स्वरूप जान लेगा। अद्वैत वेदान्ती के मतानुसार, जीवात्मा अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा है। बहुत दिनों के द्वन्द्व के बाद जीवात्मा जान लेता है कि ज्ञाता तो ज्ञाता ही रहेगा, ज्ञेय नहीं हो सकता, तब उसे वैराग्य हो जाता है, और वह मुक्त हो जाता है।

जब मनुष्य उस पूर्णता को प्राप्त कर लेता है तब उसका स्वभाव ईश्वर-जैसा हो जाता है। जैसे ईसा ने कहा है, "मैं और मेरे पिता एक हैं।" तब वह जान लेता है कि वह ब्रह्म से—निरपेक्ष सत्ता से—एकरूप है, और वह ईश्वर के समान लीला करने लगता है। जिस प्रकार बड़े से बड़ा सम्राट भी कभी-कभी खिलौनों से खेल लेता है, वैसा ही उसका भी खेल होता है।

होता है ! यही कि मन में सर्व-व्यापकता का भाव लाने के लिये तुम्हें या तो सागर की कल्पना करनी पड़ती है, या नील गगन, विस्तृत मैदान अथवा अन्य किसी वस्तु की, जिसे तुमने अपने जीवन में देखा है। यदि इतना ही है तो तुम ईश्वर की सर्व-व्यापकता का कुछ भी अर्थ नहीं समझते; यह तुम्हारे लिये बिल्कुल अर्थहीन है। ऐसा ही ईश्वर की अन्य उपाधियों के सम्बन्ध में भी जानो। सर्वशक्तिमत्ता या सर्वज्ञता के विषय में हम क्या सोच सकते हैं !—कुछ भी नहीं। अनुभूति ही धर्म का सार है, और मैं तुम्हें भगवान का ठीक-ठीक उपासक तभी कहूँगा जब तुम उनके स्वरूप का अनुभव कर सकोगे। जब तक तुम्हें यह अनुभूति नहीं होती तब तक तुम्हारे लिये ईश्वर कुछ अक्षरों से बना एक शब्द मात्र है—इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह अनुभूति ही धर्म का सार है; तुम चाहे जितने सिद्धान्तों, दर्शनों या नीतिशास्त्रों को अपने मस्तिष्क में ठूँस लो, पर इससे विशेष कुछ होने का नहीं—होगा केवल तभी, जब तुम जान लोगे कि तुम स्वयं क्या हो और तुमने क्या अनुभव किया है।

जब निर्गुण ब्रह्म को हम माया के कुहरे में से देखते हैं तो वही सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। जब हम उसे पंचेन्द्रियों-द्वारा पाने की चेष्टा करते हैं तो उसे हम सगुण ब्रह्म के रूप में ही देख सकते हैं। तात्पर्य यह कि आत्मा का विषयीकरण (Objectification) नहीं हो सकता—आत्मा को दृश्यमान वस्तु नहीं बनाया जा सकता। ज्ञाता स्वयं अपना ज्ञेय कैसे हो

सकता है ! परन्तु उसका मानो प्रतिबिम्ब पड़ सकता है—चाहो तो इसे उसका विषयीकरण कह सकते हो। इस प्रतिबिम्ब का सर्वोत्कृष्ट रूप, ज्ञाता को ज्ञेय रूप में लाने का महत्तम प्रयास—यही सगुण ब्रह्म या ईश्वर है। आत्मा सनातन ज्ञाता है, और हम उसे ज्ञेय रूप में लाने का निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं। इसी संघर्ष से इस जगत्-प्रपंच की सृष्टि हुई है, इसी प्रयत्न से जड़ पदार्थ आदि की उत्पत्ति हुई है। पर ये सब आत्मा के निम्नतम रूप हैं, और आत्मा का हमारे लिए सम्भव सर्वोच्च ज्ञेय रूप तो वह है जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं। ब्रह्म को जानने का यह प्रयास हमारे स्वयं अपने स्वरूप के प्रकटीकरण का प्रयास है। सांख्य के मतानुसार, प्रकृति यह सब खेल पुरुष को दिखला रही है, और जब पुरुष को यथार्थ अनुभव हो जायगा तब वह अपना स्वरूप जान लेगा। अद्वैत वेदान्ती के मतानुसार, जीवात्मा अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा है। बहुत दिनों के द्वन्द्व के बाद जीवात्मा जान लेता है कि ज्ञाता तो ज्ञाता ही रहेगा, ज्ञेय नहीं हो सकता, तब उसे वैराग्य हो जाता है, और वह मुक्त हो जाता है।

जब मनुष्य उस पूर्णता को प्राप्त कर लेता है तब उसका स्वभाव ईश्वर-जैसा हो जाता है। जैसे ईसा ने कहा है, "मैं और मेरे पिता एक हैं।" तब वह जान लेता है कि वह ब्रह्म से—निरपेक्ष सत्ता से—एकरूप है, और वह ईश्वर के समान लीला करने लगता है। जिस प्रकार बड़े से बड़ा सम्राट भी कभी-कभी खिलौनों से खेल लेता है, वैसा ही उसका भी खेल होता है।

कुछ कल्पनायें ऐसी होती हैं जो अन्य दूसरी कल्पनाओं से उद्भूत होनेवाले बन्धन को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। यह समस्त जगत् ही कल्पना-प्रसूत है, परन्तु यहाँ एक प्रकार की कल्पनायें दूसरे प्रकार की कल्पनाओं से उत्थित होनेवाली बुराइयों को नष्ट कर देती हैं। जो कल्पनायें हमें यह बतलाती हैं कि यह संसार पाप, दुःख और मृत्यु से भरा हुआ है, वे बड़ी भयानक हैं; परन्तु जो कहती हैं कि 'तुम पवित्र हो; ईश्वर हैं; दुःख का अस्तित्व ही नहीं है,' वे सब अच्छी हैं, और प्रथमोक्त कल्पनाओं से होनेवाले बन्धन का खण्डन कर देती हैं। सबसे ऊँची कल्पना, जो समस्त बन्धन-पाशों को तोड़ सकती है, सगुण ब्रह्म या ईश्वर की है।

भगवान से यह प्रार्थना करना कि "प्रभु, अमुक वस्तु की रक्षा करो और मुझे यह दो; मैं तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ और तुम मुझे यह आवश्यक वस्तु दो; प्रभु, मेरा सिर-दर्द अच्छा कर दो" आदि-आदि—यह सब भक्ति नहीं है। ये तो धर्म के हीनतम रूप हैं, कर्म के निम्नतम प्रकाश हैं। यदि मनुष्य शारीरिक वासनाओं की पूर्ति में ही अपनी समस्त मानसिक शक्ति खर्च कर दे, तो तुम भला बताओ तो, उसमें और पशु में अन्तर ही क्या है? भक्ति एक ऊँची वस्तु है, स्वर्ग की कामना से भी ऊँची। स्वर्ग का अर्थ असल में है क्या?—अनन्त विलास का एक स्थान। उसका भगवान से क्या सम्बन्ध?

केवल मूर्ख ही इन्द्रिय-सुखों के पीछे दौड़ते हैं। इन्द्रियों में रहना सरल है; खाते, पीते और मौज उड़ाते हुए पुराने ढर्रे में चलते

रहना सहज है। किन्तु आजकल के दार्शनिक तुम्हें जो बतलाना चाहते हैं, वह यह है कि मौज उड़ाओ, किन्तु उस पर केवल धर्म की छाप लगा दो। इस प्रकार का सिद्धान्त बड़ा खतरनाक है। इन्द्रियों में ही मृत्यु है। आत्मा के स्तर पर का जीवन ही सच्चा जीवन है; अन्य सब स्तरों का जीवन मृत्यु-स्वरूप है। यह सम्पूर्ण जीवन एक व्यायाम-शाला है। यदि हम सच्चे जीवन का आनन्द लेना चाहते हैं तो हमें इस जीवन के परे जाना होगा।

जब तक छुआछूत तुम्हारा धर्म है और रसोई के बर्तन तुम्हारे देवता हैं, तब तक तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। धर्म-धर्म के बीच जो क्षुद्र मतभेद हैं, वे सब केवल शाब्दिक हैं,—उनमें कोई अर्थ नहीं। हरएक सोचता है, "यह मेरा मौलिक विचार है," और अपने मन के अनुसार ही सब काम कराना चाहता है। इसी से संघर्षों की उत्पत्ति होती है।

दूसरों की आलोचना करने में हम सदा यह मूर्खता करते हैं कि किसी एक विशेष गुण को हम अपने जीवन का सर्वस्व समझ लेते हैं और उसी को मापदण्ड मानकर दूसरों के दोषों को खोजने लगते हैं। इस प्रकार दूसरों को पहचानने में हम भूलें कर बैठते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि तलवार और धर्मान्धता-द्वारा किसी धर्म का प्रचार बड़ी जल्दी किया जा सकता है, किन्तु नींव उसी धर्म की दृढ़ होती है जो हर एक को विचार की स्वतन्त्रता देता है और इस तरह उसे उच्चतर मार्ग पर आरूढ़ कर देता है, भले ही इससे धर्म का प्रचार शनैः शनैः हो।

भारत को पहले आध्यात्मिक विचारों से प्लावित कर दो, फिर अन्य विचार अपने-आप ही आ जाएँगे। आध्यात्मिकता और आध्यात्मिक ज्ञान का दान सर्वोत्तम दान है, क्योंकि यह हमें संसार के आवागमन से मुक्त कर देता है; इसके बाद है लौकिक ज्ञान का दान, क्योंकि यह आध्यात्मिक ज्ञान के लिए हमारी आँखें खोल देता है; इसके बाद आता है जीवन-दान और चतुर्थ है अन्न-दान।

यदि साधना करते-करते शरीर-पात भी हो जाय तो होने दो; इससे क्या ! सर्वदा साधुओं की संगति में रहते-रहते समय आने पर आत्मज्ञान होगा ही। एक ऐसा भी समय आता है जब मनुष्य की समझ में यह बात आ जाती है कि किसी दूसरे आदमी के लिये चिलम भरकर उसकी सेवा करना लाखों बार के ध्यान से कहीं बढ़कर है। जो व्यक्ति ठीक-ठीक चिलम भर सकता है, वह ध्यान भी ठीक तरह से कर सकता है।

देवतागण और कोई नहीं, उच्च अवस्था-प्राप्त दिवंगत मानव हैं। हमें उनसे सहायता मिल सकती है।

हर कोई आचार्य या गुरु नहीं हो सकता, किन्तु मुक्त बहुत से लोग हो सकते हैं। मुक्त पुरुष को यह जगत् स्वप्नवत् जान पड़ता है, किन्तु आचार्य को मानो स्वप्न और जाग्रत इन दोनों अवस्थाओं के बीच खड़ा होना पड़ता है। उसे यह ज्ञान रखना ही पड़ता है कि जगत् सत्य है, अन्यथा वह क्योंकर देगा ! फिर, यदि उसे यह अनुभूति न हुई हो कि

जगत् स्वप्नवत् है, तो उसमें और एक साधारण आदमी में अन्तर ही क्या!—और वह शिक्षा भी क्या दे सकेगा! गुरु को शिष्य के पापों का बोझ वहन करना पड़ता है; और यही कारण है कि शक्तिशाली आचार्यों के शरीर में भी रोग प्रविष्ट हो जाते हैं। यदि गुरु अपूर्ण हुआ, तो शिष्य के पाप उसके मन पर भी प्रभाव डालते हैं, और इस तरह उसका पतन हो जाता है। अतः आचार्य होना बड़ा कठिन है।

आचार्य या गुरु होने की अपेक्षा जीवन्मुक्त होना सहज है। क्योंकि जीवन्मुक्त संसार को स्वप्नवत् मानता है और उससे कोई वास्ता नहीं रखता; पर आचार्य को यह ज्ञान होने पर भी कि जगत् स्वप्नवत् है, उसमें रहना और कार्य करना पड़ता है। हर एक के लिये आचार्य होना सम्भव नहीं। आचार्य तो वह है जिसके माध्यम से दैवी-शक्ति कार्य करती है। आचार्य का शरीर अन्य मनुष्यों के शरीर से बिलकुल भिन्न प्रकार का होता है। उस (आचार्य के) शरीर को पूर्णता की अवस्था में बनाये रखने का एक विज्ञान है। उसका शरीर बहुत ही कोमल, ग्रहणशील तथा तीव्र आनन्द और कष्ट का अनुभव कर सकने की क्षमता रखनेवाला होता है। वह असाधारण होता है।

जीवन के सभी क्षेत्रों में हम देखते हैं कि अन्तर्मानव की ही जीत होती है, और यह अन्तर्मानव ही—यह व्यक्तित्व ही समस्त सफलता का रहस्य है।

नवद्वीप के भगवान श्रीकृष्णचैतन्य में भावों का जैसा अद्भुत विकास देखने में आता है, वैसा और कहीं नहीं।

श्रीरामकृष्ण एक महान् दैवी-शक्ति हैं। तुम्हें यह न विचार करना चाहिये कि उनका सिद्धान्त यह है या वह। किन्तु वे एक महान् शक्ति हैं, जो अब भी उनके शिष्यों में वर्तमान है और संसार में कार्य कर रही है। मैंने उनके भावों का विकास होते देखा है और वह आज भी हो रहा है। श्रीरामकृष्ण जीवन्मुक्त भी थे और आचार्य भी।

---

(१४)

ईश्वर और ब्रह्म

स्वामी विवेकानन्द जब यूरोप में थे तब उनसे एक प्रश्न किया गया था कि वेदान्त दर्शन में ईश्वर का क्या स्थान है। उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था :—

ईश्वर व्यष्टियों की समष्टि हैं, और साथ ही वे एक व्यष्टि भी हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि मानव-शरीर इकाई होते हुए भी जीवाणु (Cell) रूपी अनेक व्यष्टियों की समष्टि है। समष्टि ही ईश्वर है और व्यष्टि ही जीव है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व जीव के अस्तित्व पर निर्भर है, जैसा कि शरीर का जीवाणु पर; और इसका विलोम भी सत्य है। इस प्रकार, जीव और ईश्वर सह-वर्तमान हैं; यदि एक का अस्तित्व है तो दूसरे का होगा ही। और चूँकि, हमारी इस धरती को छोड़कर अन्य सब उच्चतर लोकों में अच्छाई या शुभ की मात्रा बुराई या अशुभ की मात्रा से बहुत ज्यादा है, हम इन सबकी समष्टि—ईश्वर—को सर्वशुभ कह सकते हैं। समष्टिस्वरूप होने के ।

प्रत्यक्ष गुण हैं, इन्हें सिद्ध करने के लिये कोई तर्क की आवश्यकता नहीं। ब्रह्म इन दोनों से परे है और निर्विकार है। ब्रह्म ही एक ऐसी इकाई है जो अन्य इकाइयों की समष्टि नहीं—वह अखण्ड है, वह क्षुद्र जीवाणु से लेकर ईश्वर तक समस्त भूतों में व्याप्त है, उसके बिना किसी का अस्तित्व सम्भव नहीं, और जो कुछ भी सत्य है वह ब्रह्म ही है। जब मैं सोचता हूँ 'अहं ब्रह्मास्मि', तब केवल मैं ही वर्तमान रहता हूँ, मेरे अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं रह जाता। यही बात औरों के विषय में भी है। अतएव, प्रत्येक ही वही पूर्ण ब्रह्मतत्त्व है।

(१५)

ज्ञानयोग

सभी जीवात्मायें खेल कर रही हैं—कोई जान-बूझकर, तो कोई बिना जाने। धर्म हमें जान-बूझकर खेल करना सिखलाता है।

जो नियम हमारे सांसारिक जीवन में लागू होता है, वही हमारे धार्मिक जीवन तथा विश्व-जीवन में भी लागू होता है। वह एक और सार्वभौम है। यह बात नहीं कि धर्म एक नियम-द्वारा परिचालित होता हो और संसार एक दूसरे द्वारा। मानव और दानव—ये दोनों ही भगवान के रूप हैं—भेद है केवल प्रकाश के तारतम्य में।

पाश्चात्य देशों के धर्मज्ञ, दार्शनिक और वैज्ञानिक यह सिद्ध करने के लिये कि मृत्यु के बाद जीवन होता है, बाल की खाल खींच रहे हैं। छोटी सी बात के लिये कितनी उछल-कूद मचा रहे हैं। सोचने के लिये इससे ऊँची और भी कितनी बातें हैं। 'मेरी मृत्यु' होगी'—यह कैसी भ्रान्त कल्पना है। हमें यह

से निक्षिप्त हुए हैं—और यह केन्द्र है परमात्मा। अपना-अपना वृत्त पूरा करने के बाद हम सब उसी केन्द्र में वापस चले जायेंगे जहाँ से हमने प्रारम्भ किया था।

प्रत्येक आत्मा की तुलना एक वृत्त से की जा सकती है। इसका केन्द्र शरीर में है, और वहीं से उसका कार्य प्रकट होता है। तुम सर्वव्यापी हो, यद्यपि तुम्हें जान पड़ता है कि तुम एक ही बिन्दु में केन्द्रित हो। तुम्हारे उस केन्द्र ने अपने चारों ओर पंचभूतों का एक पिण्ड (शरीर) बना लिया है जो उसके प्रकटीकरण का यन्त्र है। जिसके माध्यम से आत्मा अपने को प्रकट या प्रकाशित करती है, वह शरीर कहलाता है। तुम सर्वत्र विद्यमान हो। जब एक यन्त्र या शरीर काम के योग्य नहीं रह जाता, तो केन्द्र वहाँ से हटकर पहले की अपेक्षा सूक्ष्मतर अथवा स्थूलतर पंचभूत-कणों को एकत्र करके दूसरा शरीर निर्माण कर लेता है और उसके द्वारा अपना कार्य करता है। यह तो हुआ जीवात्मा का वृत्तान्त,—और परमात्मा क्या है? परमात्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है और केन्द्र सर्वत्र है। उस वृत्त में का प्रत्येक बिन्दु सजीव, चैतन्य और समानरूप से क्रियाशील है। हमारी बद्ध आत्माओं के लिये केवल एक ही बिन्दु चैतन्य है, और वही आगे या पीछे बढ़ता या हटता रहता है।

आत्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, पर जिसका केन्द्र किसी शरीर में है। मृत्यु—शरीर का नाश—केन्द्र का स्थानान्तर मात्र है। परमात्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी

बतलाने के लिये कि हम नहीं मरेंगे, किसी पुजारी, देव या दानव की आवश्यकता नहीं। यह तो एक प्रत्यक्ष सत्य है—सभी प्रत्यक्ष सत्यों से भी प्रत्यक्ष है। कोई भी मनुष्य अपने स्वयं के नाश की कल्पना नहीं कर सकता। अमरत्व का भाव प्रत्येक मनुष्य में अन्तर्निहित है।

जहाँ कहीं जीवन है, वहाँ मृत्यु भी है। जीवन मृत्यु की छाया है, और मृत्यु जीवन की। जीवन और मृत्यु के बीच की रेखा इतनी सूक्ष्म है कि उसका निश्चयात्मक बोध और धारणा दुःसाध्य है।

मैं शाश्वत उन्नति-क्रम में विश्वास नहीं करता, मैं यह नहीं मानता कि हम निरन्तर एक सीधी रेखा में बढ़ते चले जा रहे हैं। इस अर्थहीन बात पर विश्वास किया ही नहीं जा सकता। गति कभी एक सरल रेखा में नहीं होती। यदि एक सरल रेखा अनन्त रूप से बढ़ा दी जाय तो वह वृत्त बन जाती है। कोई भी शक्ति-निक्षेप वृत्त पूरा करके प्रारम्भ ही के स्थान पर लौट आता है।

कोई भी उन्नति सरल रेखा में नहीं होती। प्रत्येक जीवात्मा मानो एक वृत्त में भ्रमण करता है, और उसे वह मार्ग तय करना ही होगा। कोई भी जीवात्मा इतना निम्नगामी नहीं हो सकता, उसे एक-न-एक दिन ऊपर उठना ही होगा। भले ही वह पहले एकदम नीचे जाता दिखे, पर वृत्त-पथ को पूरा करनेके लिये उसे ऊपर की दिशा में उठना ही पड़ेगा। हम सभी एक साधारण केन्द्र

से निक्षिप्त हुए हैं—और यह केन्द्र है परमात्मा। अपना-अपना वृत्त पूरा करने के बाद हम सब उसी केन्द्र में वापस चले जायेंगे जहाँ से हमने प्रारम्भ किया था।

प्रत्येक आत्मा की तुलना एक वृत्त से की जा सकती है। इसका केन्द्र शरीर में है, और वहीं से उसका कार्य प्रकट होता है। तुम सर्वव्यापी हो, यद्यपि तुम्हें जान पड़ता है कि तुम एक ही बिन्दु में केन्द्रित हो। तुम्हारे उस केन्द्र ने अपने चारों ओर पंचभूतों का एक पिण्ड (शरीर) बना लिया है जो उसके प्रकटीकरण का यन्त्र है। जिसके माध्यम से आत्मा अपने को प्रकट या प्रकाशित करती है, वह शरीर कहलाता है। तुम सर्वत्र विद्यमान हो। जब एक यन्त्र या शरीर काम के योग्य नहीं रह जाता, तो केन्द्र वहाँ से हटकर पहले की अपेक्षा सूक्ष्मतर अथवा स्थूलतर पंचभूतकणों को एकत्र करके दूसरा शरीर निर्माण कर लेता है और उसके द्वारा अपना कार्य करता है। यह तो हुआ जीवात्मा का वृत्तान्त,—और परमात्मा क्या है? परमात्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है और केन्द्र सर्वत्र है। उस वृत्त में का प्रत्येक बिन्दु सजीव, चैतन्य और समानरूप से क्रियाशील है। हमारी बद्ध आत्माओं के लिये केवल एक ही बिन्दु चैतन्य है, और वही आगे या पीछे बढ़ता या हटता रहता है।

आत्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, पर जिसका केन्द्र किसी शरीर में है। मृत्यु—शरीर का नाश—केन्द्र का स्थानान्तर मात्र है। परमात्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी

परिधि कहीं भी नहीं है और जिसका केन्द्र सर्वत्र है। जब हम शरीर के इस ससीम केन्द्र से बाहर निकलने में समर्थ हो सकेंगे, तभी हम परमात्मा की—अपने वास्तविक स्वरूप की—उपलब्धि कर सकेंगे।

एक प्रचण्ड प्रवाह सागर की ओर बह रहा है जिसके ऊपर यत्र-तत्र कागज़ और तृण के छोटे-छोटे टुकड़े बहते चले जा रहे हैं। ये टुकड़े भले ही लौट जाने का प्रयत्न करें, पर अन्त में उन सबको सागर में मिल जाना ही होगा। इसी प्रकार, तुम, मैं और यह समस्त प्रकृति जीवन-प्रवाह की मतवाली तरंगों पर बहते हुए तिनकों की भाँति हैं, जो चैतन्य-सागर—पूर्णस्वरूप भगवान की ओर खिंचे चले जा रहे हैं। हम भले ही पीछे जाने की कोशिशें करें, प्रवाह की गति के विरुद्ध हाथ पटकें और अनेक प्रकार के उत्पात करें, पर अन्त में हमें जीवन और आनन्द के उस महासागर में जाकर मिलना ही होगा।

ज्ञान मतवादहीन होता है; पर इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञान मतवादों से घृणा करता है। इसका मतलब केवल इतना ही है कि ज्ञान मतवादों से परे की अवस्था है। यथार्थ ज्ञानी किसी का नाश करना नहीं चाहता, प्रत्युत् वह सबकी सहायता के लिये प्रस्तुत रहता है। जिस प्रकार सभी नदियाँ सागर में बहकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार समस्त मतवादों को ज्ञान में पहुँचकर एक हो जाना चाहिये। ज्ञान संसार को त्याग देने की देता है, पर वह यह नहीं कहता कि उसको तिलांजलि दे

दो—वह कहता है, उसमें रहो पर निर्लिप्त होकर। संसार में रहना, पर उसका होकर नहीं—यही त्याग की सच्ची कसौटी है।

मेरी धारणा है कि प्रारम्भ से ही हममें समस्त ज्ञान संचित है। मैं यह नहीं समझ सकता कि इसका विपरीत कैसे सत्य हो सकता है। यदि तुम और मैं सागर की लघु तरंगें हैं तो वह सागर ही हमारी पार्श्वभूमि है।

जड़ पदार्थ, मन और आत्मा में सचमुच कोई अन्तर नहीं। वे उस 'एक' की अनुभूति के विभिन्न पहलू मात्र हैं। इस संसार को ही लो—पंचेन्द्रियों को यह पंचभूतमय दिखता है, दुष्टों को नरक, पुण्यात्माओं को स्वर्ग और पूर्णत्व-प्राप्त ज्ञानियों को ब्रह्ममय।

हम इन्द्रियों-द्वारा यह प्रत्यक्ष नहीं कर सकते कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है; पर हम यह कह सकते हैं कि यही अन्तिम निष्कर्ष है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक वस्तु में—यहाँ तक कि साधारण चीज़ों में भी—यह एकत्व पाया जाता है। जैसे, 'मानवी साधारणीकरण' (Human Generalisation) है—मनुष्यों में मनुष्यत्वरूप एकत्व है। हम कहते हैं कि समस्त विभिन्नता नाम और रूप से सृष्ट हुई है; पर जब हम चाहते हैं कि इस विभिन्नता को पकड़ें, अलग करें तो यह कहीं दिखती नहीं। नाम या रूप या कारणों को हम कभी भी अपना अलग अस्तित्व रखते हुए नहीं देख सकते—बिना किसी आधार के उनका अस्तित्व रह

ही नहीं सकता। यही प्रपंच या विकार 'माया' कहलाता है, जिसका अस्तित्व निर्विकार (ब्रह्म) पर निर्भर रहता है और जिसकी इससे (ब्रह्म से) पृथक् कोई सत्ता नहीं। सागर की एक लहर को लो। उस लहर का अस्तित्व तभी तक है जब तक सागर का उतना पानी एक लहर के रूप में है; और ज्योंही वह रूप नीचे सिमटकर सागर में मिल जाता है, त्योंही लहर का अस्तित्व मिट जाता है। किन्तु सागर का अस्तित्व उस लघु लहर के रूप पर उतना निर्भर नहीं रहता। केवल सागर ही यथार्थ रूप में बच रहता है, लहर का रूप तो मिटकर एकदम शून्य हो जाता है।

'एकं सत्'—'सत्य' केवल एक है। मन के ही कारण यह 'एक' बहु रूपों में प्रतिभासित होता है। जब हमें बहुत्व का बोध होता है, तब एकत्व हमारे लिये नहीं रहता और ज्योंही हम एकत्व को देखने लगते हैं, बहुत्व अदृश्य हो जाता है। दैनिक जीवन का ही उदाहरण लो—जब तुम्हें एकता का बोध होता है, तब तुम्हें अनेकता नहीं दीख पड़ती। प्रारम्भ में तुम एकता ही को लेकर चलते हो। यह एक अनोखी बात है कि चीन का मनुष्य अमेरिकानिवासियों की आकृति के अन्तर को नहीं पहचान पाता, और तुम लोग चीननिवासियों की आकृति के अन्तर को नहीं जान सकोगे।

यह प्रमाणित किया जा सकता है कि मन ही के द्वारा हमें गुणों का ज्ञान होता है। केवल गुणविशिष्ट वस्तुएँ ही ज्ञात

और ज्ञेय की परिधि के भीतर आ सकती है। जिसका कोई गुण नहीं, जिसकी कोई विशेषता नहीं, वह अज्ञात है। उदाहरण के लिये, मान लो, एक बाह्य जगत् है 'क', जो अज्ञात और अज्ञेय है। जब मैं उसकी ओर देखता हूँ तो वह हो जाता है 'क' + (मेरा) मन। जब मैं उसे जानना चाहता हूँ तो उसका तीन-चौथाई मेरा मन ही निर्माण कर देता है। अतः बाह्य-जगत् है 'क' + मन, और उसी प्रकार अन्तर्जगत् है 'ख' + मन। बाह्य या अन्तर्जगत् में हमें जितने भी विभेद दीख पड़ते हैं, वे सब मन ही की सृष्टि हैं। जिसका यथार्थ में अस्तित्व है, वह तो अज्ञात और अज्ञेय है—वह ज्ञान की सीमा से परे है, और जो ज्ञान के क्षेत्र के अतीत है, उसमें विभेद हो ही नहीं सकता, वहाँ विभिन्नता रह ही नहीं सकती। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि बाह्य 'क' और आन्तरिक 'ख' दोनों एक ही हैं, और इसीलिये 'सत्य' केवल एक है।

ईश्वर तर्क नहीं करते। यदि तुम्हें किसी वस्तु का ज्ञान है तो तुम उसके लिये तर्क क्यों करोगे? यह तो दुर्बलता का लक्षण है कि हमें कुछ तथ्यों के संग्रह के लिये कीड़ों के समान इधर-उधर रेंगना पड़ता है—बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, और बाद में हमारे सब प्रयत्न धूल में मिल जाते हैं—किसी काम के नहीं रहते। आत्मा ही मन तथा प्रत्येक वस्तु में प्रतिबिम्बित होता है। आत्मा का प्रकाश ही मन को चैतन्य प्रदान करता है। प्रत्येक वस्तु आत्मा का ही प्रकाश है; मन विभिन्न दर्पणों के

समान है। जिन्हें तुम प्रेम, भय, घृणा, सद्गुण और दुर्गुण कहते हो, ये सब आत्मा ही के प्रतिबिम्ब हैं। जब दर्पण मैला रहता है, तो प्रतिबिम्ब भी बुरा आता है।

प्रकृत सत्ता (ब्रह्म) अव्यक्त है। हम उसकी धारणा नहीं कर सकते, क्योंकि धारणा हमें मन से करनी पड़ती है और मन स्वयं एक अभिव्यक्ति है। यह (ब्रह्म) अग्राह्य है—अवाङ्मनसगोचर है, यही उसकी महिमा है। हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि जीवन में हम न तो प्रकाश का उच्चतम स्पन्दन ही देख पाते हैं, न निम्नतम; पर इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों एक-समान हों, नहीं, उनमें तो दो ध्रुवों का अन्तर है। कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें हम आज नहीं जानते, पर जिनका ज्ञान हमें हो सकता है। अपने अज्ञान के कारण ही हम उन्हें आज नहीं जानते। परन्तु कुछ ऐसी भी बातें हैं जिनका ज्ञान हमें कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वे ज्ञान के उच्चतम स्पन्दनों से भी उच्च हैं—हमारे सर्वोच्च ज्ञान की सीमा के भी अतीत हैं। हम सदा ही वही 'सनातन पुरुष' हैं, यद्यपि हम इसे जान नहीं सकते। उस अवस्था में ज्ञान असम्भव है। विचार की ससीमता ही ज्ञान का आधार है। उदाहरणार्थ, मुझमें अपनी आत्मा के अस्तित्व से अधिक निश्चित और कुछ भी नहीं है; फिर भी, यदि मैं आत्मा के बारे में सोचना चाहूँ तो केवल यही सोच सकता हूँ कि वह या तो शरीर है या मन, सुखी है या दुखी, अथवा स्त्री है या पुरुष। यदि मैं उसे उसके यथार्थ स्वरूप में जानना चाहूँ

को प्रतीत होता है कि इसके लिये उसे निम्न स्तर पर खींच लाने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है। फिर भी, आत्मा के यथार्थ अस्तित्व के बारे में मुझे पूर्ण निश्चय है। "हे प्रिये, कोई स्त्री पति को पति के लिये प्रेम नहीं करती, किन्तु इसलिये कि वही आत्मा पति में भी अवस्थित है। हे प्रिये, कोई मनुष्य पत्नी को पत्नी के लिये प्यार नहीं करता, किन्तु इसलिये कि वही आत्मा पत्नी में भी अवस्थित है। आत्मा के द्वारा और आत्मा के लिये ही प्रेम किया जाता है।" और आत्मा ही एकमात्र ऐसी सत्ता है जिसे हम जानते हैं, क्योंकि उसी में से और उसी के द्वारा हमें अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान होता है; परन्तु फिर भी हम उसकी धारणा नहीं कर सकते। 'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात् !'—ज्ञाता को हम कैसे जान सकते हैं ! यदि हम उसे जान जायँ, तो वह ज्ञाता न रह जायगा—ज्ञेय हो जायगा; वह विषयीकृत हो जायगा।

जिसे सर्वोच्च अनुभूति हो गई है, वह कह उठता है, "मैं राजाधिराज हूँ; मुझसे बड़ा राजा और कोई नहीं है। मैं देवदेव हूँ, मुझसे बड़ा देवता और कोई नहीं है। केवल मैं ही वर्तमान हूँ—'एकमेव अद्वितीयम्'।" वेदान्त का यह अद्वैत भाव बहुतों को बड़ा भयानक दिखता ज़रूर है, परन्तु वह केवल कुसंस्कार के कारण है।

हम आत्मा हैं, सर्वदा शान्त और निष्क्रिय हैं। हमें रोना नहीं चाहिये। आत्मा के लिये रोना कैसा ! हम अपनी कल्पना

हैं सोचते हैं कि भगवान करुणाभिभूत हो अपने सिंहासन पर बैठे हुए रो रहे हैं। ऐसे भगवान की प्राप्ति से क्या लाभ! भगवान रोएँ ही क्यों! रोना तो दुर्बलता का चिह्न है—बन्धन का लक्षण है।

सर्वोच्च को खोजो, सर्वदा सर्वोच्च को ही खोजो, क्योंकि सर्वोच्च में ही शाश्वत आनन्द है। यदि मुझे शिकार खेलना ही हो तो मैं शेर का शिकार करूँगा। यदि मुझे डाका डालना ही हो तो राजा के खज़ाने में डाका डालूँगा। सदा सर्वोच्च को ही ढूँढ़ो।

अहा! जिन्हें सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता, मन और वाणी जिनका वर्णन नहीं कर सकती, हृदय के हृदय में ही जिनका अनुभव किया जा सकता है, जो समस्त तुलना से परे हैं, सीमा के अतीत हैं और नीलाकाश की भाँति अपरिवर्तनशील हैं, हे साधो, उन्हीं सर्वस्वरूप को—उन्हीं 'एक' को जानो, और कुछ न खोजो!

हे साधो, प्रकृति के परिणाम जिन्हें स्पर्श नहीं कर सकते, जो विचार से भी परे हैं, जो अचल और अपरिवर्तनशील हैं, समस्त शास्त्र जिनका निर्देश कर रहे हैं और जो ऋषि-मुनियों के आराध्य हैं, केवल उन्हीं को खोजो!

वे अनन्त अखण्ड एकरस हैं, तुलनातीत हैं। वहाँ कोई तुलना सम्भव नहीं। ऊपर जल, नीचे जल, दाईं ओर जल, बाईं ओर जल, सर्वत्र जल ही जल है; उस जल में एक भी तरंग नहीं, एक भी लहर नहीं, सब शान्त—नीरव, सब शाश्वत आनन्द!

ऐसी ही अनुभूति तुम्हारे हृदय में होगी। अन्य किसी की चाह न करो।

तू क्यों रोता है, भाई! तेरे लिये न मृत्यु है, न रोग। तू क्यों रोता है, भाई! तेरे लिये न दुःख है, न शोक। तू क्यों रोता है, भाई! तेरे विषय में परिणाम या मृत्यु की बात कही ही नहीं गई। तू तो सत्स्वरूप है।

मैं जानता हूँ कि परमात्मा क्या है—पर मैं तुम्हें बतला नहीं सकता। मैं नहीं जानता कि परमात्मा क्या है—अतः मैं तुम्हें उनके विषय में कैसे बतला सकता हूँ! पर भाई, क्या तू नहीं देखता कि तू 'वही' है, तू 'वही' है—तत् त्वमसि! परमात्मा को तू इधर-उधर ढूँढ़ता क्यों फिर रहा है! खोज बन्द कर, और वही परमात्मा है,—अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जा।

तू ही हमारा पिता, माता व प्रिय मित्र है। तू ही संसार का भार वहन करता है। अपने जीवन का भार वहन करने में हमें तू सहायता दे। तू ही हमारा मित्र है, हमारा प्रियतम है, हमारा पति है—तू ही 'हम' है।

(१६)

माया का क्या कारण है ?

यह प्रश्न कि माया (भ्रम) का क्या कारण है, गत तीन सहस्र वर्षों से पूछा जा रहा है। इसका केवल एक ही उत्तर दिया जा सकता है, और वह यह है कि जब संसार इस सम्बन्ध में एक तर्कसंगत प्रश्न उठा सकेगा, तभी हम इसका उत्तर देंगे। उपरोक्त प्रश्न तो एक अपवाद है। हमारा कहना है कि निरपेक्ष केवल आपाततः सापेक्ष बना दीख पड़ता है, असीम केवल माया में ही ससीम बना प्रतीत होता है। असीमत्व स्वीकार करने से ही हमें मानना पड़ता है कि निरपेक्ष पर अन्य किसी का कार्य नहीं हो सकता। वह कारणरहित है, तात्पर्य यह कि उस पर किसी बाह्य वस्तु का प्रभाव नहीं पड़ सकता। सर्वप्रथम यदि वह निर्बद्ध है— असीम है, तो अन्य किसी का उस पर कार्य नहीं हो सका है। ...म में देश, काल और निमित्त नहीं हो सकने। यदि यह मान

लिया जाय तो तुम्हारा प्रश्न यह रूप ले लेता है : "कारणरहित वस्तु (ब्रह्म) के इस रूप में परिवर्तित होने का क्या कारण है?" तुम्हारा प्रश्न केवल ससीम में ही सम्भव है; पर तुम उसे ससीम या सापेक्ष की परिधि से बाहर निकालकर असीम या निरपेक्ष के सम्बन्ध में प्रयुक्त करना चाहते हो। निरपेक्ष जब सापेक्ष बन जाय और देश-काल-निमित्त-रूप उपाधियाँ आ जायँ, तभी यह प्रश्न पूछा जा सकता है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि अज्ञान भ्रम का कारण है—अज्ञान से माया की उत्पत्ति होती है। निरपेक्ष पर किसी का कार्य नहीं हो सकता। वह कारणरहित है। बात यह नहीं कि हम उसके विषय में जानते न हों, अथवा हम अज्ञानी हों; पर सच बात तो यह है कि वह ज्ञान से परे है, और उसे ज्ञानगोचर नहीं किया जा सकता। "मैं नहीं जानता", यह वाक्य हम दो अर्थों में प्रयुक्त कर सकते हैं। पहला तो यह कि हम ज्ञान के स्तर से नीचे हैं; और दूसरा यह कि जिसे हम जानना चाहते हैं, वह वस्तु ज्ञान से ऊपर है—परे है। आज हमें 'एक्स-रे' नामक किरणें ज्ञात हैं। उनका कारण हम अभी निश्चित रूप से नहीं जानते, पर कभी-न-कभी हम उसे जान ही लेंगे। यहाँ हम कह सकते हैं कि हम एक्स-रे के बारे में नहीं जानते। पर निरपेक्ष के सम्बन्ध में हम नहीं जान सकते। हम एक्स-रे को नहीं जानते, यद्यपि वे ज्ञान की सीमा के भीतर हैं; बात केवल इतनी ही है कि अभी तक हम उन्हें जान नहीं पाये हैं। पर निरपेक्ष के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती, वह तो ज्ञान

के स्तर से इतना ऊँचा है—इतना परे है कि वह जानने का विषय ही नहीं रह जाता। "विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्!"—ज्ञाता को कैसे जाना जा सकता है! तुम सदा 'तुम' ही हो, तुम अपने-आप को विषयीकृत नहीं कर सकते। अमरत्व को सिद्ध करने के लिये हमारे दार्शनिकों के हाथ में अनेक युक्तियों में से यह एक थी। यदि मैं सोचने का प्रयत्न करूँ कि मैं मरा पड़ा हूँ तो मुझे क्या कल्पना करनी होगी? यही कि मैं खड़ा हुआ हूँ और अपने-आप को—किसी एक मृत शरीर को देख रहा हूँ। अतएव मैं अपने-आप को विषयीकृत नहीं कर सकता।

---

(१७)

विकासवाद *

आकाश और प्राण तत्त्वों के अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप में प्रवेश, और व्यक्त से पुनः सूक्ष्म रूप में विलय के विषय में भारतीय दर्शन और आधुनिक विज्ञान में बहुत-कुछ समानता है। आधुनिक लोग क्रम-विकास को मानते हैं, और योगियों का भी यही मत है। परन्तु मेरी राय में, योगियों-द्वारा विकासवाद की जो व्याख्या की गई है, वह अधिक अच्छी है। "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्"—अर्थात् एक योनि से दूसरी योनि में परिवर्तन प्रकृति की पूरक प्रक्रिया-द्वारा होता है। मूलभूत बात यह है कि हमारा एक योनि से दूसरी में परिवर्तन होता रहता है, और मनुष्य-

* इसके पहले के कुछ और बाद के कुछ विषय स्वामीजी-द्वारा दिये गये उन प्रश्नों के उत्तर हैं, जो उन्हें हार्वर्ड विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों-द्वारा २२ और २४ मार्च १८९६ को पूछे गये थे।

ही अध्ययन करता हूँ, उतना ही प्रतियोगितावाला विचार मुझे भ्रान्त ज्ञात होता है। कुछ लोगों का मत है कि यदि मानव मानव के साथ लड़ाई न ठाने तो उसकी प्रगति ही न होगी। मैं भी पहले ऐसा सोचा करता था; पर अब मुझे दीख पड़ रहा है कि प्रत्येक युद्ध ने मानव-उन्नति को आगे ठेलने के बदले पचास वर्ष पीछे फेंक दिया है। वह दिन अवश्य आएगा जब हम इतिहास का अध्ययन एक विभिन्न दृष्टिकोण से करेंगे और समझ सकेंगे कि प्रतियोगिता न तो कारण है, न कार्य; वह तो मार्ग की एक घटना मात्र है, और विकास के लिये उसकी कतई आवश्यकता नहीं।

मैं समझता हूँ कि केवल पतंजलि का सिद्धान्त ही ऐसा है जिसे युक्तिवादी मनुष्य मान सकता है। वर्तमान व्यवस्था से कितने दोष उत्पन्न होते हैं! इसके द्वारा प्रत्येक दुष्ट मनुष्य को दुष्टता करने की अनुमति-सी प्राप्त है। मैंने इस देश (अमेरिका) में ऐसे भौतिकशास्त्रियों को देखा है जो कहते हैं कि 'अपराधियों को नेस्तनाबूद कर देना चाहिये, और केवल यही एक ऐसा उपाय है जिससे समाज में से अपराध मिटाया जा सकता है।' ये परिस्थितियाँ विकास में बाधा डाल सकती हैं, परन्तु उसके लिये आवश्यक नहीं हैं। प्रतियोगिता की सबसे भयानक बात तो यह है कि कोई एक व्यक्ति परिस्थितियों पर भले ही विजय प्राप्त कर ले, पर जहाँ एक की जीत होती है, वहाँ सहस्रों का नाश भी हो जाता है। अतएव यह बुरा ही है। जिससे केवल एक को सहायता मिले और अधिकांश को बाधा पहुँचे, वह कभी भला नहीं हो

सकता। पतंजलि कहते हैं कि ये संघर्ष केवल हमारे अज्ञान के ही कारण हैं, अन्यथा न तो इनकी आवश्यकता है और न ये मानव-विकास का कोई अंश ही हैं। हम अपनी अधीरता के ही कारण इनका सृजन कर लेते हैं। हममें इतना धैर्य नहीं कि अपना मार्ग धीरता से तैयार करें। उदाहरणार्थ, नाटक-घर में जब आग लग जाती है तो थोड़े से ही लोग बाहर निकल पाते हैं। बाकी सब जल्दी निकलने की धक्का-धुक्की में एक-दूसरे को कुचल डालते हैं। नाटक-गृह अथवा जो दो-तीन व्यक्ति बचकर बाहर निकल पाये हैं उनकी रक्षा के लिये यह कुचलना आवश्यक न था। यदि सब धीरे धीरे निकले होते तो एक को भी चोट न लगती। यही हाल जीवन में भी है। द्वार हमारे लिये खुले पड़े हैं, और हम सब बिना किसी प्रतियोगिता या संघर्ष के, बाहर निकल सकते हैं; किन्तु फिर भी हम संघर्ष करते हैं। हम अपने अज्ञान से, अपनी अधीरता से संघर्ष की सृष्टि कर लेते हैं; हम बड़े जल्दबाज़ हैं—हममें धीरज बिल्कुल है ही नहीं। शक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति है अपने को शान्त रखना और स्वयं अपने पैरों पर खड़े होना।

---

(१८)

बौद्धमत और वेदान्त

वेदान्त दर्शन बौद्ध एवं अन्य सभी भारतीय मतों का आधार है; किन्तु हम जिसे आधुनिक पण्डितों का अद्वैत-दर्शन कहते हैं, उसमें बौद्धों के भी अनेक सिद्धान्त मिले हुए हैं। अवश्य ही, हिन्दू—अर्थात् सनातनी हिन्दू—इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि उनके विचार में बौद्ध नास्तिक हैं। परन्तु वेदान्त दर्शन को जान-बूझकर ऐसा व्यापक रूप देने की चेष्टा की गई है कि उसमें नास्तिकों के लिये भी स्थान रहे।

वेदान्त का बौद्धमत से कोई झगड़ा नहीं। वेदान्त का उद्देश्य ही है सभी का समन्वय करना। उत्तर के बौद्धों के साथ हमारा तनिक भी मनमुटाव नहीं है। किन्तु ब्रह्मदेश, स्याम तथा अन्य दक्षिण देशों के बौद्ध कहते हैं कि इन्द्रियग्राह्य परिदृश्यमान जगत् का ही अस्तित्व है, और वे हमसे पूछते हैं, 'इस परिदृश्यमान

जगत् के पीछे एक शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता की—एक अतीन्द्रिय जगत् की कल्पना करने का तुम्हें क्या अधिकार है?' इसके प्रत्युत्तर में वेदान्त कहता है कि यह आरोप *मिथ्या* है। वेदान्त का कभी भी यह मत नहीं रहा कि इन्द्रियग्राह्य तथा अतीन्द्रिय ये दो जगत् हैं। उसका कहना है कि जगत् केवल एक है। इन्द्रियों-द्वारा देखे जाने पर वही प्रपंचमय और अनित्य भासता है, किन्तु वास्तव में वह सर्वदा अपरिवर्तनशील और नित्य ही है। जैसे मान लो, किसी को रस्सी पर सर्प का भ्रम हो गया। जब तक उसे सर्प का बोध है तब तक उसे रस्सी दिखेगी ही नहीं—वह उसे सर्प ही समझता रहेगा। पर यदि उसे ज्ञात हो जाय कि वह सर्प नहीं, रस्सी है, तो फिर वह रस्सी में सर्प *कभी नहीं देख सकेगा—उसे केवल रस्सी ही दिखेगी।* वह या तो रस्सी है, या सर्प ही; किन्तु दोनों का बोध एक साथ कभी नहीं होगा। अतएव, बौद्धों का हम लोगों पर यह जो आरोप है कि हम दो जगत् में विश्वास करते हैं, सर्वथा मिथ्या है। यदि उनकी इच्छा हो तो वे इतना कह सकते हैं कि यह जगत् इन्द्रियग्राह्य है—परिदृश्यमान है; किन्तु वे यह नहीं कह सकते कि दूसरों को उसे अतीन्द्रिय कहने का अधिकार नहीं।

बौद्ध लोग इन्द्रियग्राह्य प्रपंचमय जगत् के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। इस प्रपंचमय जगत् में ही कामना है। कामना ही इस सबकी सृष्टि कर रही है। आधुनिक वेदान्ती इसे बिलकुल नहीं मानते। हम लोगों का मत है कि कोई ऐसी वस्तु है

जो इच्छाशक्ति के रूप में परिणत हुई है। इच्छाशक्ति एक परिणाम है, एक यौगिक पदार्थ है—'मौलिक' नहीं। बिना किसी बाह्य पदार्थ के इच्छाशक्ति हो ही नहीं सकती। अतः यह सिद्धान्त कि जगत् की उत्पत्ति इच्छाशक्ति से हुई है, असम्भव है। यह कैसे हो सकता है? क्या तुमने किसी बाह्य उत्तेजना के बिना कभी इच्छाशक्ति का अनुभव किया है? बाह्य उत्तेजना के बिना—या आधुनिक दार्शनिक भाषा में कहें तो स्नायविक उत्तेजना के बिना—कभी इच्छा या कामना का उदय नहीं होता। इच्छाशक्ति मस्तिष्क की एक प्रकार की प्रतिक्रिया है, जिसे सांख्य के मतानुयायी दार्शनिकगण 'बुद्धि' कहते हैं। इस प्रतिक्रिया के पहले किसी क्रिया का होना आवश्यक है, और क्रिया या कार्य के लिये बाह्य जगत् का होना ज़रूरी है। यदि बाह्य जगत् न हो तो इच्छाशक्ति भी नहीं हो सकती; किन्तु फिर भी, तुम्हारे (बौद्धों के) सिद्धान्त के अनुसार इच्छाशक्ति ने जगत् की सृष्टि की। अच्छा, इच्छाशक्ति को कौन उत्पन्न करता है? इच्छाशक्ति तो जगत् की सहवर्तिनी है। जिस शक्ति ने जगत् की सृष्टि की, उसी ने इच्छाशक्ति का भी सृजन किया है। किन्तु दर्शन को यहीं नहीं रुक जाना चाहिये। इच्छाशक्ति बिल्कुल व्यक्तिगत वस्तु है; अतः हम शॉपेनहार * से सहमत नहीं हो सकते। इच्छाशक्ति बाह्य और आन्तरिक का योग है—एक मिश्रण है। मान लो, एक आदमी ने बिना किसी इन्द्रियों के जन्म लिया, तो उसमें कुछ भी इच्छाशक्ति न होगी। इच्छाशक्ति के लिये पहले कोई बाह्य वस्तु आवश्यक है, और मस्तिष्क अन्दर से कुछ शक्ति लेकर उसमें योग देता है; अतः

* एक सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक।

जगत् के पीछे एक शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता की—एक अतीन्द्रिय जगत् की कल्पना करने का तुम्हें क्या अधिकार है?' इसके प्रत्युत्तर में वेदान्त कहता है कि यह आरोप मिथ्या है। वेदान्त का कभी भी यह मत नहीं रहा कि इन्द्रियग्राह्य तथा अतीन्द्रिय ये दो जगत् हैं। उसका कहना है कि जगत् केवल एक है। इन्द्रियों-द्वारा देखे जाने पर वही प्रपंचमय और अनित्य भासता है, किन्तु वास्तव में वह सर्वदा अपरिवर्तनशील और नित्य ही है। जैसे मान लो, किसी को रस्सी पर सर्प का भ्रम हो गया। जब तक उसे सर्प का बोध है तब तक उसे रस्सी दिखेगी ही नहीं—वह उसे सर्प ही समझता रहेगा। पर यदि उसे ज्ञात हो जाय कि वह सर्प नहीं, रस्सी है, तो फिर वह रस्सी में सर्प कभी नहीं देख सकेगा—उसे केवल रस्सी ही दिखेगी। यह या तो रस्सी है, या सर्प ही; किन्तु दोनों का बोध एक साथ कभी नहीं होगा। अतएव, बौद्धों का हम लोगों पर यह जो आरोप है कि हम दो जगत् में विश्वास करते हैं, सर्वथा मिथ्या है। यदि उनकी इच्छा हो तो वे इतना कह सकते हैं कि यह जगत् इन्द्रियग्राह्य है—परिदृश्यमान है; किन्तु वे यह नहीं कह सकते कि दूसरों को उसे अतीन्द्रिय कहने का अधिकार नहीं।

बौद्ध लोग इन्द्रियग्राह्य प्रपंचमय जगत् के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। इस प्रपंचमय जगत् में ही कामना है। कामना ही इस समग्र सृष्टि पर रही है। आधुनिक वेदान्ती इसे बिल्कुल नहीं मानते। हम लोगों का मत है कि कोई ऐसी वस्तु है

जो इच्छाशक्ति के रूप में परिणत हुई है। इच्छाशक्ति एक परिणाम है, एक यौगिक पदार्थ है—'मौलिक' नहीं। बिना किसी बाह्य पदार्थ के इच्छाशक्ति हो ही नहीं सकती। अतः यह सिद्धान्त कि जगत् की उत्पत्ति इच्छाशक्ति से हुई है, असम्भव है। यह कैसे हो सकता है? क्या तुमने किसी बाह्य उत्तेजना के बिना कभी इच्छाशक्ति का अनुभव किया है? बाह्य उत्तेजना के बिना—या आधुनिक दार्शनिक भाषा में कहें तो स्नायविक उत्तेजना के बिना—कभी इच्छा या कामना का उदय नहीं होता। इच्छाशक्ति मस्तिष्क की एक प्रकार की प्रतिक्रिया है, जिसे सांख्य के मतानुयायी दार्शनिकगण 'बुद्धि' कहते हैं। इस प्रतिक्रिया के पहले किसी क्रिया का होना आवश्यक है, और क्रिया या कार्य के लिये बाह्य जगत् का होना ज़रूरी है। यदि बाह्य जगत् न हो तो इच्छाशक्ति भी नहीं हो सकती; किन्तु फिर भी, तुम्हारे (बौद्धों के) सिद्धान्त के अनुसार इच्छाशक्ति ने जगत् की सृष्टि की। अच्छा, इच्छाशक्ति को कौन उत्पन्न करता है? इच्छाशक्ति तो जगत् की सहवर्तिनी है। जिस शक्ति ने जगत् की सृष्टि की, उसी ने इच्छाशक्ति का भी सृजन किया है। किन्तु दर्शन को यहीं नहीं रुक जाना चाहिये। इच्छाशक्ति बिलकुल व्यक्तिगत वस्तु है; अतः हम शोपेनहार * से सहमत नहीं हो सकते। इच्छाशक्ति बाह्य और आन्तरिक का योग है—एक मिश्रण है। मान लो, एक आदमी ने बिना किसी इन्द्रियों के जन्म लिया, तो उसमें कुछ भी इच्छाशक्ति न होगी। इच्छाशक्ति के लिये पहले कोई बाह्य वस्तु आवश्यक है, और मस्तिष्क अन्दर से कुछ शक्ति लेकर उसमें योग देता है; अतः

* एक सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक।

जगत् के पीछे एक शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता की—एक अतीन्द्रिय जगत् की कल्पना करने का तुम्हें क्या अधिकार है !' इसके प्रत्युत्तर में वेदान्त कहता है कि यह आरोप मिथ्या है। वेदान्त का कभी भी यह मत नहीं रहा कि इन्द्रियग्राह्य तथा अतीन्द्रिय ये दो जगत् हैं। उसका कहना है कि जगत् केवल एक है। इन्द्रियों-द्वारा देखे जाने पर वही प्रपंचमय और अनित्य भासता है, किन्तु वास्तव में वह सर्वदा अपरिवर्तनशील और नित्य ही है। जैसे मान लो, किसी को रस्सी पर सर्प का भ्रम हो गया। जब तक उसे सर्प का बोध है तब तक उसे रस्सी दिखेगी ही नहीं—वह उसे सर्प ही समझता रहेगा। पर यदि उसे ज्ञात हो जाय कि वह सर्प नहीं, रस्सी है, तो फिर वह रस्सी में सर्प कभी नहीं देख सकेगा—उसे केवल रस्सी ही दिखेगी। वह या तो रस्सी है, या सर्प ही; किन्तु दोनों का बोध एक साथ कभी नहीं होगा। अतएव, बौद्धों का हम लोगों पर यह जो आरोप है कि हम दो जगत् में विश्वास करते हैं, सर्वथा मिथ्या है। यदि उनकी इच्छा हो तो वे इतना कह सकते हैं कि वह जगत् इन्द्रियग्राह्य है—परिदृश्यमान है; किन्तु वे यह नहीं कह सकते कि दूसरों को उसे अतीन्द्रिय कहने का अधिकार नहीं।

बौद्ध लोग इन्द्रियग्राह्य प्रपंचमय जगत् के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। इस प्रपंचमय जगत् में ही कामना है। कामना ही इस सबकी सृष्टि कर रही है। आधुनिक वेदान्ती इसे बिलकुल नहीं मानते। हम लोगों का मत है कि कोई ऐसी वस्तु है

जो इच्छाशक्ति के रूप में परिणत हुई है। इच्छाशक्ति एक परिणाम है, एक यौगिक पदार्थ है—'मौलिक' नहीं। बिना किसी बाह्य पदार्थ के इच्छाशक्ति हो ही नहीं सकती। अतः यह सिद्धान्त कि जगत् की उत्पत्ति इच्छाशक्ति से हुई है, असम्भव है। यह कैसे हो सकता है? क्या तुमने किसी बाह्य उत्तेजना के बिना कभी इच्छा-शक्ति का अनुभव किया है? बाह्य उत्तेजना के बिना—या आधुनिक दार्शनिक भाषा में कहें तो स्नायविक उत्तेजना के बिना—कभी इच्छा या कामना का उदय नहीं होता। इच्छाशक्ति मस्तिष्क की एक प्रकार की प्रतिक्रिया है, जिसे सांख्य के मतानुयायी दार्शनिकगण 'बुद्धि' कहते हैं। इस प्रतिक्रिया के पहले किसी क्रिया का होना आवश्यक है, और क्रिया या कार्य के लिये बाह्य जगत् का होना ज़रूरी है। यदि बाह्य जगत् न हो तो इच्छाशक्ति भी नहीं हो सकती; किन्तु फिर भी, तुम्हारे (बौद्धों के) सिद्धान्त के अनुसार इच्छाशक्ति ने जगत् की सृष्टि की! अच्छा, इच्छाशक्ति को कौन उत्पन्न करता है? इच्छाशक्ति तो जगत् की सहवर्तिनी है। जिस शक्ति ने जगत् की सृष्टि की, उसी ने इच्छा-शक्ति का भी सृजन किया है। किन्तु दर्शन को यहीं नहीं रुक जाना चाहिये। इच्छाशक्ति बिल्कुल व्यक्तिगत वस्तु है; अतः हम शॉपेनहार * से सहमत नहीं हो सकते। इच्छाशक्ति बाह्य और आन्तरिक का योग है—एक मिश्रण है। मान लो, एक आदमी ने बिना किसी इन्द्रियों के जन्म लिया, तो उसमें कुछ भी इच्छाशक्ति न होगी। इच्छाशक्ति के लिये पहले कोई बाह्य वस्तु आवश्यक है, और मस्तिष्क अन्दर से कुछ शक्ति [illegible] ये [illegible]

*

(१९)

वेदान्त-दर्शन

वेदान्ती कहता है कि मनुष्य न तो जन्म लेता है और न मरता या स्वर्ग जाता है। आत्मा के सम्बन्ध में पुनर्जन्म एक कल्पना मात्र है। पुस्तक के पन्ने उलटने का उदाहरण लो। उलट-पुलट पुस्तक में हो रही है, उलटानेवाले मनुष्य में नहीं। प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापी है, तब वह कहाँ आ-जा सकती है ! ये जन्म और मरण प्रकृति में होनेवाले परिवर्तन हैं, जिन्हें हम प्रमादवश अपने में ही घटनेवाले परिवर्तन समझ रहे हैं।

पुनर्जन्म प्रकृति या क्रमविकास तथा अन्तःस्थित परमात्मा की क्रमाभिव्यक्ति है।

वेदान्त कहता है कि प्रत्येक जीवन अतीत का प्रतिफल-स्वरूप है, और जब हम सम्पूर्ण अतीत पर दृष्टि डाल सकने में सक्षम हो सकेंगे तब हम मुक्त हो जायेंगे। मुक्त होने की इच्छा

बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेती है। और कुछ वर्ष का समय मानो मानव की आँखों में सत्य का स्पष्ट चित्र अंकित कर देता है।

यह जीवन छोड़ने के बाद जब मनुष्य दूसरे जन्म की प्रतीक्षा में रहता है, तब भी वह प्रपंचमय जगत् के अन्तर्गत ही है।

आत्मा का हम इन शब्दों में वर्णन करते हैं : इसे न तलवार काट सकती है, न बरछा छेद सकता है; न आग जला सकती है, न पानी घुला सकता है; यह अविनाशी और सर्वव्यापी है। अतएव इसके लिये रोना क्यों!

यदि यह अत्यन्त पतित रही है तो कालक्रम से उन्नत बन जायगी। मूल सिद्धान्त यह है कि शाश्वत मुक्ति पर सबका अधिकार है। उसे सभी अवश्य प्राप्त करेंगे। मोक्ष की इच्छा से प्रेरित होकर हमें प्रयत्न करना पड़ता है। मोक्ष की इच्छा को छोड़कर अन्य सभी इच्छायें भ्रमात्मक हैं। वेदान्ती कहता है कि प्रत्येक शुभ कार्य इस मुक्ति की ही अभिव्यक्ति है।

मैं यह नहीं मानता कि एक ऐसा भी समय आएगा जब संसार से समस्त बुराइयाँ लुप्त हो जाएँगी। यह कैसे हो सकता है! यह प्रवाह तो चलता ही रहेगा। जलराशि एक छोर से निकलती रहती है, पर दूसरे छोर से जलसमूह आता भी रहता है।

वेदान्त कहता है कि तुम पवित्र और पूर्ण हो। एक अवस्था ऐसी भी है जो कि पाप और पुण्य से परे है, और वहीं

तुम्हारा प्रकृत स्वरूप है। वह अवस्था पुण्य से भी ऊँची है। पुण्य में भी भेद-ज्ञान है, किन्तु पाप से कम।

हमारे यहाँ पाप-विषयक कोई सिद्धान्त नहीं। हम तो उसे अज्ञान कहते हैं।

जहाँ तक नीति-शास्त्र, अन्य लोगों के प्रति व्यवहार आदि का सम्बन्ध है—यह सब प्रपंचमय जगत् के अन्तर्गत है। सत्य तो यह है कि परमात्मा में अज्ञान-जैसी किसी वस्तु के आरोप करने की बात सोची ही नहीं जा सकती। उनके सम्बन्ध में हम कहते हैं कि वे सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं। उन अतीन्द्रिय, निरपेक्ष सत्ता को विचार और वर्णन द्वारा व्यक्त करने का हमारा प्रत्येक प्रयत्न उन्हें इन्द्रियग्राह्य और सापेक्ष बना देगा, और इस तरह उनके वास्तविक स्वरूप को नष्ट कर देगा।

एक बात हमें ध्यान में रखनी होगी, और वह यह कि जब तक हम इन्द्रियग्राह्य जगत् में आसक्त हैं तब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का कथन नहीं किया जा सकता। यदि तुम इस नाम-रूपमय जगत् में आबद्ध हो और साथ ही अपने को ब्रह्म होने का दावा भी करो, तो तुम्हें अनाचार करने से कौन रोक सकता है? अतएव तुम्हारे ब्रह्म होने की बात इन्द्रियातीत जगत् के विषय में ही लागू हो सकती है। यदि मैं ब्रह्म हूँ, तो इन्द्रिय-वृत्तियों से मैं परे हूँ और पाप कर ही नहीं सकता। निश्चय ही, नैतिकता मनुष्य का चरम लक्ष्य नहीं है, वह तो मोक्ष-प्राप्ति का साधन मात्र है। वेदान्त कहता है कि इस ब्रह्म-तत्त्व की अनुभूति का

है—उसकी अवहेलना नहीं करता; क्योंकि उस वस्तु की प्राप्ति का मार्ग बुद्धि से होकर ही जाता है।

समस्त पुराने कुसंस्कारों को भगा देने के लिये हमें तर्क-बुद्धि की आवश्यकता है; और अन्त में जो बच रहता है, वही वेदान्त है। संस्कृत में एक सुन्दर कविता है जिसमें एक साधु पुरुष अपने-आप से कहता है, "मेरे मित्र, तू क्यों रोता है! तेरे लिए न भय है, न मृत्यु। तू क्यों रोता है! तेरे लिये कोई दुःख-कष्ट नहीं है, क्योंकि तू तो इस अनन्त नीलाकाश की भाँति स्वभावतः अपरिवर्तनशील है। नील गगन के सामने रंग-बिरंगे बादल आते हैं, क्षण भर खेल करते हैं और फिर चले जाते हैं, पर आकाश ज्यों-का-त्यों ही रहता है। तुझे भी केवल अज्ञानरूपी बादलों को भगा देना है।"

हमें केवल द्वार खोलकर रास्ता साफ कर देना है। पानी अपने-आप वेग से आकर भर जायगा, क्योंकि वह वहाँ पहले ही से विद्यमान है।

मानव-मन का अधिकांश ज्ञानयुक्त एवं कुछ अंश अज्ञानयुक्त होता है, और उसके लिये ज्ञान से परे चले जाना सम्भवपर है। यथार्थ मनुष्य बन जाने पर ही हम तर्क-बुद्धि से अतीत हो सकते हैं। 'उच्चतर' और 'निम्नतर' शब्दों का प्रयोग हम केवल प्रपंचमय जगत् में ही कर सकते हैं। इनका अतीन्द्रिय जगत् के विषय में प्रयोग करना अपवाद मात्र है, क्योंकि वहाँ विभेद नहीं है। इस प्रपंचमय जगत् में मनुष्य-योनि उच्चतम है। वेदान्ती

एक मार्ग 'योग' है। योग अपने आन्तरिक मुक्तस्वभाव की अनुभू
से होता है, और इस अनुभूति के सामने सभी वस्तुयें पराभ
हो जाती हैं। तब ज्ञात हो जाता है कि नैतिकता और आच
का स्थान कहाँ पर है।

अद्वैत-दर्शन के विरोध में जितनी भी आलोचनायें की ग
हैं, उन सबका सारांश यह है कि उससे इन्द्रिय-सुखों के भो
में बाधा पहुँचती है। हम हर्षपूर्वक इस बात को स्वीकार करते हैं

वेदान्त-दर्शन नितान्त निराशावाद को लेकर प्रारम्भ होत
है और उसकी समाप्ति होती है यथार्थ आशावाद में। हम इन्द्रिय
जनित अनुभवों पर आधारित आशावाद को अस्वीकार करते है
परन्तु इन्द्रियातीत आत्मानुभूति पर आधारित प्रकृत आशावाद क
स्वीकार करते हैं। यथार्थ सुख इन्द्रियों में नहीं, इन्द्रियों से परे है
और प्रत्येक व्यक्ति में वह विद्यमान है। संसार में हम जो तथा
कथित आशावाद देखते हैं, वह हमें इन्द्रियपरायण बनाकर विनाश
की ओर ले जाता है।

हमारे दर्शन में निषेध (नेति-नेति) का बहुत बड़ा महत्
है। निषेधीकरण में प्रकृत आत्मा का अस्तित्व बोध निहित है
इन्द्रियगम्य जगत् को अस्वीकार करने के दृष्टिकोण से वेदान्त
निराशावादी है, पर इन्द्रियातीत प्रकृत जगत् को स्वीकार करने के
दृष्टिकोण से वह आशावादी है।

यद्यपि वेदान्त कहता है कि बुद्धि से भी परे कोई वस्तु है

है—उसकी अवहेलना नहीं करता; क्योंकि उस वस्तु की प्राप्ति का मार्ग बुद्धि से होकर ही जाता है।

समस्त पुराने कुसंस्कारों को भगा देने के लिये हमें तर्क-बुद्धि की आवश्यकता है; और अन्त में जो बच रहता है, वही वेदान्त है। संस्कृत में एक सुन्दर कविता है जिसमें एक साधु पुरुष अपने-आप से कहता है, " मेरे मित्र, तू क्यों रोता है ! तेरे लिए न भय है, न मृत्यु। तू क्यों रोता है ! तेरे लिये कोई दुःख-कष्ट नहीं है, क्योंकि तू तो इस अनन्त नीलाकाश की भाँति स्वभावतः अपरिवर्तनशील है। नील गगन के सामने रंग-बिरंगे बादल आते हैं, क्षण भर खेल करते हैं और फिर चले जाते हैं, पर आकाश ज्यों-का-त्यों ही रहता है। तुझे भी केवल अज्ञानरूपी बादलों को भगा देना है। "

हमें केवल द्वार खोलकर रास्ता साफ़ कर देना है। पानी अपने-आप वेग से आकर भर जायगा, क्योंकि वह वहाँ पहले ही से विद्यमान है।

मानव-मन का अधिकांश ज्ञानयुक्त एवं कुछ अंश अज्ञानयुक्त होता है, और उसके लिये ज्ञान से परे चले जाना सम्भवपर है। यथार्थ मनुष्य बन जाने पर ही हम तर्क-बुद्धि से अतीत हो सकते हैं। ' उच्चतर ' और ' निम्नतर ' शब्दों का प्रयोग हम केवल प्रपंचमय जगत् में ही कर सकते हैं। इनका अतीन्द्रिय जगत् के विषय में प्रयोग करना अपवाद मात्र है, क्योंकि वहाँ विभेद नहीं है। इस प्रपंचमय जगत् में मनुष्य-योनि उच्चतम है। वेदान्ती

एक मार्ग 'योग' है। योग अपने आन्तरिक मुक्तस्वभाव की अनुभूति से होता है, और इस अनुभूति के सामने सभी वस्तुयें पराभूत हो जाती हैं। तब ज्ञात हो जाता है कि नैतिकता और आचार का स्थान कहाँ पर है।

अद्वैत-दर्शन के विरोध में जितनी भी आलोचनायें की गई हैं, उन सबका सारांश यह है कि उससे इन्द्रिय-सुखों के भोग में बाधा पहुँचती है। हम हर्षपूर्वक इस बात को स्वीकार करते हैं।

वेदान्त-दर्शन नितान्त निराशावाद को लेकर प्रारम्भ होता है और उसकी समाप्ति होती है यथार्थ आशावाद में। हम इन्द्रिय-जनित अनुभवों पर आधारित आशावाद को अस्वीकार करते हैं, परन्तु इन्द्रियातीत आत्मानुभूति पर आधारित प्रकृत आशावाद को स्वीकार करते हैं। यथार्थ सुख इन्द्रियों में नहीं, इन्द्रियों से परे है, और प्रत्येक व्यक्ति में वह विद्यमान है। संसार में हम जो तथा-कथित आशावाद देखते हैं, वह हमें इन्द्रियपरायण बनाकर विनाश की ओर ले जाता है।

हमारे दर्शन में निषेध (नेति-नेति) का बहुत बड़ा महत्व है। निषेधीकरण में प्रकृत आत्मा का अस्तित्व-बोध निहित है। इन्द्रियगम्य जगत् को अस्वीकार करने के दृष्टिकोण से वेदान्त निराशावादी है, पर इन्द्रियातीत प्रकृत जगत् को स्वीकार करने के दृष्टिकोण से वह आशावादी है।

यद्यपि वेदान्त कहता है कि बुद्धि से भी परे कोई वस्तु है, तो भी वह मनुष्य की तर्कशक्ति को उचित मान्यता प्रदान करता

कहता है कि मानव देवता से भी ऊँचा है। समस्त देवताओं को एक-न-एक दिन मरना ही होगा, और पुनः मनुष्य-जन्म लेना होगा—केवल मनुष्य-शरीर में ही वे पूर्णत्व-लाभ कर सकेंगे।

यह सत्य है कि हम एक विचारप्रणाली की—एक मत या वाद की—सृष्टि करते हैं, किन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि वह पूर्ण नहीं है, क्योंकि सत्य सभी वादों से परे की चीज़ है। हम अपने उस मत की अन्य मतों से तुलना करने को तैयार हैं, और यह सिद्ध भी कर सकते हैं कि यही एकमात्र युक्तिसंगत मत हो सकता है; पर यह पूर्ण नहीं है, क्योंकि युक्ति स्वयं अपूर्ण है। तो भी, वही एकमात्र युक्तिसंगत विचारप्रणाली है जिसकी धारणा मानव-मन कर सकता है।

यह कुछ अंशों में सत्य है कि कोई भी मत परिपुष्ट होने के लिये उसका प्रचार होना चाहिये। किसी भी मत का उतना प्रचार नहीं हुआ जितना कि वेदान्त का। अभी भी शिक्षा व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा ही होती है। बहुत सा पढ़ लेने से ही 'मनुष्य' का निर्माण नहीं होता। जितने भी यथार्थ मनुष्य हो चुके हैं, वे सब व्यक्तिगत सम्पर्क-द्वारा ही बने थे। यह सत्य है कि ऐसे यथार्थ मनुष्य बहुत कम संख्या में हैं, पर उनकी संख्या बढ़ेगी। तो भी, यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि एक ऐसा भी दिन आएगा जब हम सब-के-सब दार्शनिक बन जाएँगे। हमारा इस बात में विश्वास नहीं कि कभी ऐसा समय आयेगा जब केवल सुख ही सुख रहेगा और दुःख का सर्वथा अभाव हो जायगा।

हमारे जीवन में कई क्षण ऐसे आते हैं जब हमें परमानन्द की झलक मिल जाती है, और उस समय हम न कुछ लेना चाहते हैं, न देना—उस महदानन्द की अनुभूति की अवस्था में हम उस आनन्द को छोड़ और कुछ भी अनुभव नहीं करते। पर ये क्षण लुप्त हो जाते हैं और पुनः हम विश्व के प्रपंच को अपने सामने चलते-फिरते देखते हैं। हम जानते हैं कि यह सब ईश्वर पर चित्रित रंग-बिरंगी कारीगरी मात्र है—ईश्वर, जो कि सभी वस्तुओं के आधारस्वरूप हैं।

वेदान्त शिक्षा देता है कि निर्वाण-लाभ यहीं और अभी हो सकता है, उसके लिये हमें मृत्यु की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। निर्वाण का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार कर लेना; और यदि, एक बार भी, वह चाहे क्षण भर के लिये ही क्यों न हो, हमें यह अवस्था प्राप्त हो गई तो फिर कभी भी हम व्यक्तित्व की मृगतृष्णा से विमोहित न हो सकेंगे। हमारे चक्षु हैं, अतः वे आपातप्रतीयमान वस्तु को ही देखते हैं, पर हमने इसके वास्तविक स्वरूप को जान लिया है और हमें सदैव यह ज्ञान रहता है कि बाह्य आवरण की पृष्ठभूमि में कौन अवस्थित है। अपरिणामी आत्मा अज्ञान के आवरण से ढका हुआ है। आवरण हट जाता है और तब हम इसके पीछे अवस्थित आत्मा को देख पाते हैं। सभी परिवर्तन या परिणाम आवरण में ही होते हैं। साधु पुरुष में यह आवरण इतना महीन होता है कि उसमें आत्मा की हमें स्पष्ट झलक दिखलाई पड़ती है; पर पापी में यह आवरण इतना मोटा होता है कि हम

इस रास्ते में संशय करने लग जाते हैं कि पापी के पीछे भी वही आत्मा है जो साधु पुरुष के पीछे विद्यमान है। जब सम्पूर्ण आवरण हट जाता है तब हम देखने लगते हैं कि वास्तव में आवरण का अस्तित्व किसी काल में नहीं था—हम सदैव आत्मा ही थे, अन्य कुछ भी नहीं; यहाँ तक कि आवरण की बात ही भूल जाती है।

जीवन में इस विभेद के दो चिह्न हैं: पहला तो यह कि जो मनुष्य आत्मज्ञानी है, उस पर किसी भी बात का प्रभाव नहीं पड़ता और दूसरे, ऐसा ही मनुष्य संसार का हित कर सकता है। केवल वही मनुष्य परोपकार का वास्तविक उद्देश्य समझ सकता है, क्योंकि वह जानता है कि अंत-व्यतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। इस उद्देश्य को हम अहं-प्रसूत नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा होने से तो उसमें भेद-ज्ञान आ जाएगा। यही एकमात्र स्वार्थ-शून्यता है। इस अवस्था में व्यक्ति का बोध नहीं होता, सर्वगत आत्मा का बोध होता है। प्रेम और सहानुभूति का प्रत्येक कार्य इसी सर्वव्यापी तत्व की पुष्टि करता है। 'मैं नहीं, तू।' दार्शनिक ढंग से इसे यों कह सकते हैं कि दूसरों की सहायता इसलिये करो कि तुम उसमें और वह तुममें है। केवल सच्चा वेदान्ती ही बिना किसी दुःख या हिचकिचाहट के दूसरे के लिये अपना जीवन दे सकता है, क्योंकि वह जानता है कि वह अमर है। जब तक संसार में एक कीड़ा भी जीवित है तब तक वह जीता है; जब तक खानेवाला एक भी मुँह है तब तक वह खाता है। अतः, वह दूसरों का

हित करता जाता है; और शरीर-रक्षा के इन आधुनिक विचारों की तनिक भी परवाह नहीं करता। जब मनुष्य इस त्याग की अवस्था में आरूढ़ हो जाता है तब वह नैतिक संघर्ष के—समस्त वस्तुओं के परे चला जाता है। तब, वह महापण्डित, गाय, कुत्ते और घृणित से घृणित पदार्थों में विद्वान्, गाय, कुत्ता या घृणित पदार्थ नहीं देखता, किन्तु सर्वभूतों में उसी भगवान का प्रकाश देखता है। केवल वही सुखी है। और जिसने इस एकत्व का अनुभव कर लिया है, उसने इस जीवन में ही संसार पर विजय प्राप्त कर ली है। परमात्मा पवित्र है; अतः ऐसा व्यक्ति परमात्मा में अवस्थित कहा जाता है। ईसा मसीह ने कहा है, "मैं अब्राहम * के भी पहले से हूँ।" इसका अर्थ यह है कि ईसा और उनकी तरह के अन्य लोग मुक्त आत्मायें हैं। ईसा ने पूर्व कर्मों से बाध्य होकर मनुष्य-शरीर ग्रहण नहीं किया, किन्तु केवल मानव-जाति का हित करने के लिये उन्होंने नर-देह धारण की। यह बात नहीं है कि मुक्त होने पर मनुष्य कर्म करना छोड़ दे और निर्जीव मिट्टी का ढेर बन जाय, प्रत्युत वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कर्म-शील होता है, क्योंकि अन्य लोग तो केवल बाध्य होकर कर्म करते हैं, पर वह स्वतंत्र होकर।

यदि हम परमात्मा से अभिन्न हैं, तो क्या हमारा पृथक् व्यक्तित्व नहीं है? हाँ, है, और वह है परमात्मा। हमारा व्यक्तित्व परमात्मा ही है। अभी तुम अपना जो व्यक्तित्व देख रहे हो, वह

* यहूदियों का एक पूर्व-पुरुष।

तुम्हारा यथार्थ व्यक्तित्व नहीं—तुम यथार्थ व्यक्तित्व की ओर अग्रसर हो रहे हो। Individuality (व्यक्तित्व) का अर्थ है जिसका विभाजन (division) न हो सके। तुम वर्तमान व्यक्तित्व को व्यक्तित्व कैसे कह सकते हो! अभी तुम एक तरह से सोच रहे हो, घण्टे भर बाद कुछ दूसरी तरह से चिन्ता करने लगते हो, और दो घण्टे बाद कुछ तीसरी ही तरह से। व्यक्तित्व (Individuality) तो वह है जो बदलता नहीं—वह समस्त वस्तुओं से परे है, अपरिणामी है। यदि यह वर्तमान स्थिति ही चिरकाल तक बनी रहे तो यह बड़ी ही भयानक बात होगी; क्योंकि तब तो चोर या दुष्ट सदैव चोर या दुष्ट ही बना रहेगा। यदि किसी बच्चे की मृत्यु हो जाय, तो वह सदा बच्चा ही बना रहेगा। यथार्थ व्यक्तित्व वह है जिसमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता, और न होगा—और वह है अन्तःस्थित परमात्मा।

वेदान्त वह विशाल सागर है जिसके वक्ष पर युद्ध-पोत और साधारण बेड़ा दोनों पास-पास रह सकते हैं। वेदान्त में यथार्थ योगी, मूर्तिपूजक, नास्तिक इन सभी के लिये पास-पास रहने को स्थान है। इतना ही नहीं, वेदान्त-सागर में हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई या पारसी सभी एक हैं—सभी उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की सन्तान हैं।

(२०)

नियम और मुक्ति

मुक्त पुरुष के लिये संघर्ष का कोई अर्थ नहीं। किन्तु हमारे लिये उसका अर्थ है, क्योंकि नाम-रूप ही जगत् की सृष्टि करता है।

वेदान्त में संघर्ष या प्रयत्न के लिये स्थान है, पर भय के लिये नहीं। जब तुम अपने वास्तविक स्वरूप को जान लोगे तब सब भय दूर हो जायगा। यदि तुम अपने को बद्ध सोचो तो बद्ध ही बने रहोगे; और यदि तुम अपने को मुक्त सोचो तो मुक्त हो जाओगे।

प्रपंचमय जगत् में हम जिस स्वतंत्रता का अनुभव कर सकते हैं, वह सच्ची स्वतंत्रता की झलक मात्र है, सच्ची स्वतंत्रता नहीं।

. . .

मैं इससे सहमत नहीं कि 'प्रकृति के नियमों का पालन करना स्वतंत्रता है।' मैं नहीं जानता कि इस कथन का तात्पर्य क्या है। यदि हम मानव-जाति की उन्नति के इतिहास का अध्ययन करें, तो मालूम हो जायगा कि वह प्रकृति के नियमों का उल्लंघन ही है जो उस उन्नति का कारण है। यह कहा जा सकता है कि निम्नतर नियमों पर उच्चतर नियमों-द्वारा विजय प्राप्त की गई। पर वहाँ भी, विजयेच्छु मन केवल मुक्त होने का ही प्रयत्न कर रहा था; और ज्योंही उसे ज्ञात हुआ कि संघर्ष भी नियम ही के अन्तर्गत है, उसने उसे भी जीतने का प्रयत्न किया। अतः प्रत्येक दशा में मुक्ति ही अभीष्ट था—आदर्श था। वृक्ष कभी भी नियम का उल्लंघन नहीं करते। मैंने गाय को चोरी करते कभी नहीं देखा, घोंघे को झूठ बोलते कभी नहीं सुना। किन्तु तो भी वे मानव से बढ़कर नहीं हैं। यह जीवन मानो मुक्ति की—स्वतंत्रता की—एक महान् घोषणा है। और यदि हम नियमों के क्रीत दास बने रहे तो यह गुलामी हमें केवल जड़ बना देगी, निर्जीव कर देगी—वह चाहे समाज के क्षेत्र में हो, राजनीति के, या धर्म के। बहुत से नियमों का होना मृत्यु का निश्चित लक्षण है। किसी समाज में यदि नियमों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ जाय तो वह उसके शीघ्र विनाश का निश्चित चिह्न है। यदि तुम भारत की विशेषताओं का अध्ययन करो, तो देखोगे कि हिन्दुओं के समान किसी भी जाति में इतने अधिक नियम नहीं हैं, और इसका परिणाम हुआ है राष्ट्रीय मृत्यु। पर हिन्दुओं

में एक विशेष बात रही है—उन्होंने धर्म के क्षेत्र में लोगों को किसी विशेष मत या सिद्धान्त में जकड़ने की चेष्टा नहीं की; और इसीलिये उनके धर्म का सबसे अधिक विकास हुआ है। ईश्वर नियम स्वतंत्र नहीं हो सकता, क्योंकि यह कहना कि ईश्वर भी नियम के अन्तर्गत है, उसे अशाश्वत—सीमित—बना देना है।

सृष्टि-कार्य में ईश्वर का कोई हेतु नहीं है, क्योंकि यदि हो तो उसमें और मनुष्य में फिर अन्तर ही क्या रहा! उसे किसी हेतु की आवश्यकता ही क्या! यदि होती, तो वह उससे बद्ध हो जाता; और तब तो हमें उसके अतिरिक्त उससे भी बड़ी कोई वस्तु माननी पड़ती। उदाहरणार्थ, गलीचा बुननेवाला एक गलीचा तैयार करता है। गलीचा बुनने की जो भावना थी, वह उसके बाहर और उससे अधिक ऊँची थी। पर अब यह बताओ कि ऐसी भावना या विचार कहाँ है जिसका कि ईश्वर अनुसरण करे! जिस प्रकार महान् सम्राट भी कभी-कभी गुड़ियों से खेल लेता है, उसी प्रकार ईश्वर भी इस प्रकृति के साथ खेल कर रहे हैं। इसे ही हम नियम कहते हैं। क्यों! इसलिये कि हम इस खेल के निर्विघ्न चलने के केवल छोटे-छोटे अंशों को ही देख सकते हैं। नियम की हमारी समस्त धारणायें एक छोटे से अंश में ही प्रतिबद्ध हैं। यह कहना बुद्धिहीनता है कि नियम अनन्त है, या चिरकाल पत्थर फेंके जाने पर वे नीचे ही की ओर गिरेंगे। यदि तर्क-बुद्धि का आधार अनुभव हो, तो एक लाख वर्ष पहले यह देखने के लिये कौन था कि पत्थर

गिरते हैं या नहीं ! अतएव, नियम मनुष्य में स्वभावसिद्ध नहीं है। मनुष्य के सम्बन्ध में यह एक विज्ञानसिद्ध बात है कि हम जहाँ से प्रारम्भ करते हैं, वहीं समाप्त भी होते हैं। वास्तव में, हम क्रमशः नियम के बाहर होते जाते हैं और अन्त में हम उससे पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं, पर हमें पूरे जीवन के अनुभव भी साथ ही मिल जाते हैं। हमारा प्रारम्भ परमात्मा और मुक्ति से होता है, और लय भी इन्हीं में होगा। ये नियम बीच की स्थिति में ही होते हैं, जहाँ से होकर हमें मार्ग तय करना पड़ता है। हमारा वेदान्त सदैव मुक्ति की ही घोषणा करता है। नियम का विचार मात्र ही वेदान्ती को डरा देता है; और शाश्वत नियम तो उसके लिये एक बड़ी ही भयानक बात है, क्योंकि यदि नियम शाश्वत हो तो उससे छुटकारे की सम्भावना ही नहीं। यदि उसे चिर-काल के लिये बन्धन में जकड़ देनेवाला कोई शाश्वत नियम हो, तो फिर उसमें और एक तृण में अन्तर ही क्या रहा ! हम नियम के इस काल्पनिक विचार में विश्वास नहीं करते।

हम कहते हैं कि हमें मुक्ति की ही खोज करनी है, और वह मुक्ति है परमात्मा। वह वही आनन्द है, जो हर वस्तु में निहित है; किन्तु जब मनुष्य उसे किसी ससीम वस्तु में ढूँढ़ता है, तो उसका कण मात्र पाता है। चोर को चोरी करने में वही आनन्द मिलता है जो भक्त को भगवान में; किन्तु चोर उस आनन्द का केवल कण मात्र पाता है और साथ ही दुःख का ढेर भी। यथार्थ आनन्द परमात्मा है। भगवान आनन्दस्वरूप हैं,

प्रेमस्वरूप हैं, मुक्तिस्वरूप हैं; और जो कुछ भी बन्धनकारक है, वह भगवान नहीं।

मनुष्य तो मुक्त ही है, किन्तु उसे इस सत्य को जानना पड़ेगा। वह प्रति क्षण इसे भूल जाता है। जाने या बिना जाने अपने इस मुक्तस्वरूप को पहचान लेना—यही प्रत्येक मानव का सम्पूर्ण जीवन है। ज्ञानी और अज्ञानी में भेद यही है कि ज्ञानी इसका जान-बूझकर अन्वेषण करता है और अज्ञानी बिना जाने। अणु से लेकर नक्षत्र तक—सभी मुक्त होने का ही प्रयत्न कर रहे हैं। अज्ञानी पुरुष एक छोटी सी परिधि में स्वतंत्र होने से ही—भूख-प्यास के बन्धनों से मुक्त होने से ही—सन्तुष्ट हो हो जाता है। किन्तु ज्ञानी अनुभव करता है कि इनसे भी दृढ़तर बन्धन हैं जिन्हें छिन्न करना है। वह रेड इंडियनों * की स्वतंत्रता को स्वतंत्रता समझेगा ही नहीं।

हमारे दार्शनिकों के मतानुसार, मुक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। ज्ञान लक्ष्य नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान एक मिश्रण या यौगिक पदार्थ है। वह शक्ति और स्वतंत्रता—इन दोनों का योग है, पर अभीष्ट केवल स्वतंत्रता ही है। मनुष्य इसी के लिये प्रयत्न करता है। केवल शक्ति का होना ही ज्ञान नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, वैज्ञानिक विद्युत्-शक्ति के धक्के को कुछ मीलों तक ही भेज सकता है, परन्तु प्रकृति तो उसे अपरिमित दूरी तक भेज सकती है। तो फिर, प्रकृति की मूर्ति स्थापित कर हम उसकी पूजा क्यों

* अमरीका की एक जंगली जाति।

नहीं करते ! हम नियम नहीं चाहते, हम चाहते हैं नियम के
तोड़ने का सामर्थ्य । हम नियमों से बाहर चले जाना चाहते हैं
यदि तुम नियमों से बँधे हो, तो मिट्टी के ढेले की भाँति निर्जी
हो । प्रश्न यह नहीं है कि तुम नियमातीत हो या नहीं; किन्
यह धारणा कि हम नियमातीत हैं, समस्त मानव-इतिहास की आधार
शिला है । उदाहरणार्थ, कोई मनुष्य जंगल में रहता है, उसको
कोई शिक्षा हुई है और न उसे कुछ ज्ञान है । वह एक पत्थर के
गिरने की प्राकृतिक घटना को देखता है, और समझता है कि
यह स्वतंत्रता के द्वारा हुई है । वह समझता है कि पत्थर में जी
या आत्मा है; और इसका केन्द्रीय भाव है स्वतंत्रता । पर ज्योंहि
उसे पता लगता है कि पत्थर का गिरना उसके वश की बात
होकर अवश्यम्भावी है, त्योंही वह उसे प्राकृतिक व्यापार—निर्जी
यान्त्रिक कार्य—कहने लगता है । मैं चाहे तो सड़क पर जाऊँ
या न जाऊँ—यह मेरे मन की बात है । मनुष्य होने के नाते
मेरी यही महानता है । पर यदि यह बात हो कि मुझे वहाँ जान
ही पड़े, तो मैं अपनी स्वतंत्रता खो बैठता हूँ और एक यंत्र-स
बन जाता हूँ । अनन्त शक्तिसम्पन्न होते हुए भी प्रकृति केवल
एक यंत्र ही है । एकमात्र स्वतंत्रता ही—मुक्ति ही—चेतन
जीवन का सार है ।

वेदान्त कहता है कि जंगल में रहनेवाले उस मनुष्य क
विचार ठीक है; उसकी सूझ ठीक है यद्यपि उसकी व्याख्या ठीक
हीं । वह प्रकृति को स्वतंत्रतामय देखता है, नियम-बद्ध नहीं। इ

भी इन सब मानवी अनुभवों के पश्चात् वैसा ही सोचने लगेंगे, पर एक अधिक दार्शनिक अर्थ में। उदाहरणार्थ, मैं सड़क पर जाना चाहता हूँ। मुझे अपनी इच्छाशक्ति से प्रेरणा मिलती है, और मैं रुक जाता हूँ। अब, सड़क पर जाने की इच्छा और वहाँ पहुँचने के बीच की अवधि में मैं एक-समान रूप से (uniformly) कार्य कर रहा हूँ। व्यवहार (कार्य) की एक-समानता (uniformity) को ही नियम कहा जाता है। मैं देखता हूँ कि मेरे कार्यों की यह जो एक-समानता है, वह समय के अनन्त छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी हुई है, और इसलिये मैं अपने कार्यों को नियमाधीन नहीं कहता। मुझे प्रतीत होता है कि मैं स्वतंत्र रूप से कार्य करता हूँ। मैं पाँच मिनट तक चलता हूँ; किन्तु उस पाँच मिनट चलने के कार्य के पहले —जो कि एक-समान कार्य है—इच्छाशक्ति का कार्य हुआ था, जिसने मुझे चलने की प्रेरणा दी। यही कारण है कि मनुष्य अपने को मुक्त समझता है, क्योंकि उसके सभी कार्य समय के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त किये जा सकते हैं; और यद्यपि इन छोटे-छोटे टुकड़ों में से प्रत्येक के भीतर एक-समानता है, उसके बाहर वह एक-समानता नहीं। इस असमानता के अनुभव में ही स्वतंत्रता का भाव निहित है। प्रकृति में हम एक-समान रूप से घटनेवाले कार्यों के अति दीर्घ खंडों को देखते हैं; पर इन खंडों में से भी प्रत्येक के आरम्भ और अन्त में स्वतंत्र प्रेरणायें अवश्य ही होनी चाहिये। यह स्वतंत्र प्रेरणा प्रारम्भ में ही दी गई, और तब से वह कार्य करती रही है; पर ये समय-खंड

नहीं करते ! हम नियम नहीं चाहते, हम चाहते हैं नियम को तोड़ने का सामर्थ्य। हम नियमों से बाहर चले जाना चाहते हैं। यदि तुम नियमों से बँधे हो, तो मिट्टी के ढेले की भाँति निर्जीव हो। प्रश्न यह नहीं है कि तुम नियमातीत हो या नहीं; किन्तु यह धारणा कि हम नियमातीत हैं, समस्त मानव-इतिहास की आधार-शिला है। उदाहरणार्थ, कोई मनुष्य जंगल में रहता है, उसको न कोई शिक्षा हुई है और न उसे कुछ ज्ञान है। वह एक पत्थर के गिरने की प्राकृतिक घटना को देखता है, और समझता है कि वह स्वतंत्रता के द्वारा हुई है। वह समझता है कि पत्थर में जीव या आत्मा है; और इसका केन्द्रीय भाव है स्वतंत्रता। पर ज्योंही उसे पता लगता है कि पत्थर का गिरना उसके वश की बात न होकर अवश्यम्भावी है, त्योंही वह उसे प्राकृतिक व्यापार—निर्जीव यान्त्रिक कार्य—कहने लगता है। मैं चाहे तो सड़क पर जाऊँ या न जाऊँ—यह मेरे मन की बात है। मनुष्य होने के नाते मेरी यही महानता है। पर यदि यह बात हो कि मुझे वहाँ जाना ही पड़े, तो मैं अपनी स्वतंत्रता खो बैठता हूँ और एक यंत्र-सा बन जाता हूँ। अनन्त शक्तिसम्पन्न होते हुए भी प्रकृति केवल एक यंत्र ही है। एकमात्र स्वतंत्रता ही—मुक्ति ही—चेतन जीवन का सार है।

वेदान्त कहता है कि जंगल में रहनेवाले उस मनुष्य का विचार ठीक है; उसकी सूझ ठीक है यद्यपि उसकी व्याख्या ठीक नहीं। वह प्रकृति को स्वतंत्रतामय देखता है, नियम-बद्ध नहीं। हम

भी इन सब मानवी अनुभवों के पश्चात् वैसा ही सोचने लोगे, पर एक अधिक दार्शनिक अर्थ में। उदाहरणार्थ, मैं सड़क पर जाना चाहता हूँ। मुझे अपनी इच्छाशक्ति से प्रेरणा मिलती है, और मैं रुक जाता हूँ। अब, सड़क पर जाने की इच्छा और वहाँ पहुँचने के बीच की अवधि में मैं एक-समान रूप से (uniformly) कार्य कर रहा हूँ। व्यवहार (कार्य) की एक-समानता (uniformity) को ही नियम कहा जाता है। मैं देखता हूँ कि मेरे कार्यों की यह जो एक-समानता है, वह समय के अनन्त छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी हुई है, और इसलिये मैं अपने कार्यों को नियमाधीन नहीं कहता। मुझे प्रतीत होता है कि मैं स्वतंत्र रूप से कार्य करता हूँ। मैं पाँच मिनट तक चलता हूँ; किन्तु उस पाँच मिनट चलने के कार्य के पहले—जो कि एक-समान कार्य है—इच्छाशक्ति का कार्य हुआ था, जिसने मुझे चलने की प्रेरणा दी। यही कारण है कि मनुष्य अपने को मुक्त समझता है, क्योंकि उसके सभी कार्य समय के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त किये जा सकते हैं; और यद्यपि इन छोटे-छोटे टुकड़ों में से प्रत्येक के भीतर एक-समानता है, उसके बाहर वह एक-समानता नहीं। इस असमानता के अनुभव में ही स्वतंत्रता का भाव निहित है। प्रकृति में हम एक-समान रूप से घटनेवाले कार्यों के अति दीर्घ खंडों को देखते हैं; पर इन खंडों में से भी प्रत्येक के आरम्भ और अन्त में स्वतंत्र प्रेरणायें अवश्य ही होनी चाहिये। यह स्वतंत्र प्रेरणा प्रारम्भ में दी गई, और तब से वह कार्य करती रही है; पर ये समय-खंड

हमारे समय-खंडों से कहीं अधिक दीर्घ होते हैं। दार्शनिक रूप से विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि हम स्वतंत्र नहीं हैं। फिर भी, हमारे भीतर यह भाव बना ही रहता है कि हम स्वतंत्र हैं—मुक्त हैं। अब हमें यह समझना है कि यह भाव आता कैसे है। हम देखते हैं कि हममें ये दो प्रेरणायें हैं। हमारी बुद्धि बतलाती है कि हमारे प्रत्येक कार्य का कुछ कारण होता है, और साथ ही साथ, प्रत्येक मनःस्पन्दन के साथ हम अपने स्वतंत्र स्वभाव की घोषणा भी कर रहे हैं। इस पर वेदान्त का समाधान यह है कि अन्दर तो स्वतंत्रता है—आत्मा तो वास्तव में मुक्त है—पर इस आत्मा के कार्य शरीर और मन के द्वारा होते हैं, जो कि स्वतंत्र नहीं हैं।

ज्योंही हम प्रतिक्रिया करते हैं, हम दास बन जाते हैं। कोई व्यक्ति मुझे दोष देता है, तो मैं तुरन्त क्रोध के रूप में प्रतिक्रिया करता हूँ। यह जो थोड़ी सी उत्तेजना उसने मुझमें उत्पन्न कर दी, मुझे गुलाम बना लेती है। अतः, हमें अपनी स्वतंत्रता प्रमाणित करनी पड़ेगी। महात्मा वे ही हैं, जो श्रेष्ठ महाविद्वान् व्यक्ति, या नीच, दुष्ट मनुष्य, या क्षुद्रतम पशु में न तो महात्मा देखते हैं, न मनुष्य, न पशु, किन्तु सभी में उसी एक भगवान को देखते हैं। इस जीवन में ही उन्होंने संसार पर विजय प्राप्त कर ली है, और वे इस समता में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो गये हैं। परमात्मा पवित्र और सबके लिये समान है। अतः ऐसा महात्मा मनुष्य-देह में प्रकट प्रत्यक्ष ईश्वर ही है। हम सब इसी लक्ष्य की

ओर बढ़ रहे हैं; और प्रत्येक प्रकार की उपासना, मानव का प्रत्येक कार्य इसी की प्राप्ति का साधन है। धनार्थी भी मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा है—वह गरीबी के बन्धन से मुक्त होना चाहता है। मनुष्य का प्रत्येक कार्य उपासना है, क्योंकि निहित भाव है मुक्ति की प्राप्ति; और सभी कार्यों का उद्देश्य, अपरोक्ष या परोक्ष रूप से, वही होता है। केवल यह बात ध्यान में रखनी होगी कि उसमें बाधा पहुँचानेवाले सभी कार्य निषिद्ध हैं। समस्त विश्व ज्ञात या अज्ञात रूप से उपासना ही कर रहा है—उसे केवल इस बात का ज्ञान नहीं है कि जब वह गाली देता है, तो भी उसी भगवान की एक प्रकार से उपासना ही कर रहा है जिसे उसने गाली दी; क्योंकि जो लोग गाली दे रहे हैं, वे भी मुक्ति के लिये ही प्रयत्न कर रहे हैं। वे कभी यह नहीं सोचते कि किसी वस्तु की प्रतिक्रिया करने से वे अपने-आप को उसका दास बना रहे हैं। किसी प्रकार की प्रतिक्रिया न होने देना एक कठिन बात है।

यदि हम इस विश्वास को कि हममें ससीमता या त्रुटियाँ हैं, दूर कर सकें तो हमारे लिये सब कुछ करना अभी सम्भव हो जाय। यह केवल समय का प्रश्न है। शक्ति बढ़ाओ, तो समय कम लगेगा। उस प्रोफ़ेसर की बात याद रखो जिसने संगमर्मर के बनने का रहस्य जानकर बारह वर्ष में ही संगमर्मर तैयार कर लिया, जबकि प्रकृति-द्वारा उसके बनने में शताब्दियाँ लग जाती हैं।

लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों—इन दोनों को मिलाकर 'योग' कहा जाता है। 'योग' शब्द संस्कृत के उसी धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिससे कि अंग्रेजी शब्द 'योक' (Yoke)—जिसका अर्थ है 'जोड़ना', अर्थात् अपने को उस परमात्मा से जोड़ना, जो कि हमारा प्रकृत स्वरूप है। इस प्रकार के योग अथवा मिलन के साधन कई हैं, पर उनमें मुख्य हैं कर्म-योग, भक्ति-योग, राज-योग और ज्ञान-योग।

प्रत्येक मनुष्य का विकास उसके अपने स्वभावानुसार ही होना चाहिये। जिस प्रकार हर एक विज्ञानशास्त्र के अपने अलग-अलग तरीके होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म में भी हैं। धर्म के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के तरीकों या साधनों को हम योग कहते हैं। विभिन्न प्रकृतियों और स्वभावों के अनुसार योग के भी विभिन्न प्रकार हैं। उनके निम्नलिखित चार विभाग हैं :—

(१) कर्म-योग—इसके अनुसार मनुष्य कर्म और कर्तव्य के द्वारा अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है।

(२) भक्ति-योग—इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति सगुण ईश्वर के प्रति भक्ति और प्रेम के द्वारा होती है।

(३) राज-योग—इसके अनुसार मनुष्य अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति मनःसंयम के द्वारा करता है।

(४) ज्ञान-योग—इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति ज्ञान के द्वारा होती है।

ये सब एक ही केन्द्र—भगवान—की ओर ले जानेवाले विभिन्न मार्ग हैं। वास्तव में, धर्म-मतों की विभिन्नता लाभदायक है,

क्योंकि मनुष्य को धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा वे सभी देते हैं और इस प्रकार सभी अच्छे हैं। जितने ही अधिक सम्प्रदाय होते हैं, मनुष्य की भगवद्भावना को सफलतापूर्वक जागृत करने के उतने ही अधिक सुयोग मिलते हैं।

* * *

'ओक बीच क्रिश्चियन यूनिटी' (Oak Beech Christian Unity) के सामने सार्वभौम एकता पर भाषण देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा :—

मूल में सभी धर्म समान हैं। सत्य तो यही है, पर ईसाई मत (Christian Church) धर्मादेश में वर्णित 'फेरिसी' की तरह, ईश्वर को धन्यवाद देता है कि केवल वही धर्म सत्य है, और सोचता है कि अन्य सब धर्म असत्य हैं तथा उन्हें ईसाइयों से ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। इससे पहले कि संसार ईसाई मत के साथ उदारतापूर्वक सहयोग करे, ईसाई मत को सहिष्णु होना पड़ेगा। ईश्वर प्रत्येक हृदय में साक्षी के रूप में विद्यमान है, और लोगों को, विशेषतः ईसा मसीह के अनुयायियों को तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। वास्तव में, ईसा मसीह तो प्रत्येक अच्छे मनुष्य को भगवान के परिवार में सम्मिलित कर लेना चाहते थे। मनुष्य किसी विशेष बात पर विश्वास करने से ही भला नहीं बन जाता, पर स्वर्ग-स्थित पतीत? की इच्छा पूर्ण करने से भला बनता है। भले बनना और भला करना—इसी आधार पर संसार में एकता स्थापित हो सकती है।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

३. श्रीरामकृष्णवचनामृत—तीन भागों में—अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'; प्रथम भाग (तृतीय संस्करण) — मूल्य ६); द्वितीय भाग (द्वि. सं.)—मूल्य ६); तृतीय भाग (द्वि. सं)— मूल्य ७)

५. श्रीरामकृष्णलीलामृत—(विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)- दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. विवेकानन्द-चरित—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)— सत्येन्द्रनाथ मजूमदार,—मूल्य ६)

७. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (सम्पूर्ण आर्ट पेपर पर छपी हुई) कार्डबोर्ड की जिल्द, मूल्य ३।); कपड़े की जिल्द, मूल्य ३।।।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. विवेकानन्दजी के संग में-(वार्तालाप)-शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि.सं. मूल्य ५।)

९. भारत में विवेकानन्द(द्वि. सं.) ५)
०. ज्ञानयोग (प्र. सं.) ३)
१. पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र. सं.) २=)
२. पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र. सं.) २=)
३. देववाणी (प्र. सं.) २=)
४. धर्मविज्ञान (द्वि.सं.) १॥=)
५. कर्मयोग (द्वि. सं.) १॥=)
६. हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) १॥)
७. प्रेमयोग (तृ. सं.) १।=)
८. भक्तियोग (तृ. सं.) १।=)
९. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (तृ. सं.) १।)
२०. परिव्राजक (च. सं) १।)
२१. प्राच्य और पाश्चात्य (च.सं.) १।)
२२. महापुरुषों की जीवन-गाथायें (तृ. स.) १।)
२३. व्यावहारिक जीवन में वेदान्त (प्र. स.) १=)
२४. राजयोग (प्र. सं.) १=)
२५. स्वाधीन भारत ! जय हो ! (प्र. सं.) १=)
२६. चिन्तनीय बातें (प्र.सं.) १)
२७. धर्मरहस्य (द्वि.सं.) १)
२८. भारतीय नारी (द्वि. सं.) ।।।)
२९. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (द्वि.सं.) ।।।=)

३०. शिक्षा	(द्वि. सं)	||=)
३१. शिकागो-वक्तृता (प. सं.)		||=)
३२. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं.)		||=)
३३. मेरे गुरुदेव	(पं. सं.)	||=)
३४. कवितावली	(प्र. सं.)	||=)
३५. शक्तिदायी विचार (द्वि.सं.)		||=)
३६. हमारा भारत	(प्र. सं.)	||)
३७. वर्तमान भारत	(च. सं.)	||)
३८. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. सं.)		||)
३९. पवहारी बाबा	(द्वि. सं.)	||)
४०. मरणोत्तर जीवन	(द्वि. सं.)	||)
४१. मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें	(प्र. सं.)	||)

४२. सरल राजयोग (प्र. सं.)
४३. मेरी समर-नीति (प्र. सं.)
४४. ईशदूत ईसा (प्र. सं.)
४५. विवेकानन्दजी से वार्तालाप (प्र. सं.)
४६. विवेकानन्दजी की कथायें (प्र. सं.

---

४७. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (द्वि. सं.
४८. वेदान्त-सिद्धान्त और
—स्वामी शारदानन्द, (प्र. सं
४९. गीतातत्त्व—स्वामी शार
(प्र. सं.

मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण-चारित्र—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति)
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति)
३. श्रीरामकृष्णवचनामृत (पहिली आवृत्ति)—(अंतरंग शिष्यांशीं व भक्तांशीं झालेलीं भगवान श्रीरामकृष्णांचीं संभाषणें)
४. कर्मयोग—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद
५. महापुरुषांच्या जीवनकथा—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद
६. माझे गुरुदेव— (दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद
७. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद
८. शिक्षण—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद
९. पवहारी बाबा—(पहिली आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद
१०. शिकागो-व्याख्यानें—(तिसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद
११. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा—(तिसरी आवृत्ति)—भगवान श्रीरामकृष्णांच्या निवडक उपदेशांचें त्यांच्याच एका अंतरंग शिष्याने केलेलें संकलन
१२. साधु नागमहाशय-चारित्र—(भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शि
(दुसरी आवृत्ति)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर—१, म. प्र.